வேதாந்தம் - [illegible]

வழி நூல்கள்.



ௐ

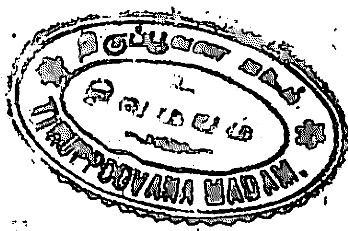
அத்வைதாம்ருதம்

अद्वैतामृतम्

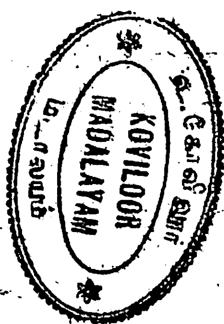
அத்வைத தாமிர்தம்

मूल्य ॥=)

अद्वैतामृतम् ।







शिवरात्री १९७८]

[मूल्य ॥=)

प्रकाशक—
रामचन्द्र, मारवाड़ी अग्रवाल
ठिकाना—लाला गुटीराम सेढमल
तम्बाकू कटरा, देहली ।

धन्यवाद ।

इस पुस्तक के छपवाने में श्रीयुत सेठ गौरीशङ्कर मालिक दूकान सेठ गोरखराम साधुराम, खुरजा—जिला बुलन्दशहर ने १००) मुद्रा की सहायता देकर मुझे अनुगृहीत किया है, तदर्थ उन्हें सहर्ष धन्यवाद दिया जाता है ।

रामचन्द्र ।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
जतनबड़, काशी ४२१-२२ ।

20-4

1 104
2 157
3 49
4 104
5 171
585

समर्पण !

पद-वाक्य-प्रमाणपारावारीणचूड़ामणि प्रातः स्मरणीय ब्रह्ममूर्त्ति श्रीगुरुवर पण्डित श्री ६ काशीनाथ शास्त्री जी महाराज (बलिया मण्डलान्तर्गत छाता-ग्रामवासी) के श्रीचरणकमलों में "अद्वैतामृत" ग्रन्थ को श्रद्धापुरःसर समर्पण करता हूँ।

रामचन्द्र।

निवेदन ।

इस अद्वैतामृत ग्रन्थ की संस्कृत टीका संवत् १९५० में बम्बई में छपी थी, पुस्तक के उपयोगी तथा इस समय न मिलने के कारण सर्वसाधारण के हितार्थ सरल हिन्दी भाषा में संक्षिप्त तथा शुद्ध अनुवाद करके प्रकाशन किया जाता है।

विज्ञ पाठकों की सेवा में निवेदन है कि पुस्तक के छपने में जो अशुद्धि आदि दोष रह गये हों उन्हें सुधार कर पढ़ें और भ्रमप्रमाद को मनुष्य का अपरिहार्य्य दोष समझ कर हमें क्षमा करें।

इस पुस्तक के छपवाने आदि का सर्वसाधारण को अधिकार है।

बुकपैकट के पोस्टेज से अतिरिक्त, एक पुस्तक से लेकर चौदह पुस्तक तक रजिस्टरी और मनीआर्डर का खर्च ।) एकसा ही लगेगा, इस लिये अधिक पुस्तक मँगवाने में खर्च की बहुत बचत रहेगी।

आपका सेवक,

रामचन्द्र ।

पुस्तक मिलने का पता—

बाबू रामचन्द्र
ठिकाना, बाबू रामधनदास
तुलसीराम,
म० नन्दनसाहू, बनारस शहर ।

लाला शिवशङ्कर लाल
ठि० लाला रामनाथ गौरीशङ्कर
छत्ता मदनगोपाल
चाँदनी चौक, देहली ।

20-4

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः ।

अद्वैतामृतम् ।

प्रथमः कवलः ।



हरिहरसरस्वती य द्गुरुरीड्यः परमहंसानाम् ।
स जगन्नाथपदोत्तर सरस्वतीशब्दसंवेद्यः ॥
कर्मन्दिकण्ठालङ्कारं सारं वेदान्तवारिधेः ।
रचयत्यमलं ग्रन्थ मद्वैतामृतसंज्ञकम् ॥

ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये ग्रन्थकार, ग्रन्थ के आरम्भ में गुरुस्मरणरूप मङ्गलाचरण द्वारा अद्वैतामृत—पुस्तक की रचना की प्रतिज्ञा करता है कि:—

परमहंसों के पूज्य "हरिहरसरस्वती" जिसके गुरु हैं वह जगन्नाथ सरस्वती "अद्वैतामृत" नामक पुस्तक को रचता है, जो "अद्वैतामृत" सन्यासियों के कण्ठका भूषण, उपनिषत्समुद्र का सार और अविद्या का निवर्त्तक है।

अनेक जन्मों में किये हुए पुण्यकर्मों से नित्यानित्यवस्तु-विवेक द्वारा वैराग्य उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् शम दम आदि

षट् साधनों के अनुष्ठान द्वारा मुमुक्षा उत्पन्न होती है, तदनन्तर वेदान्तविचार से ज्ञान तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसी प्रक्रिया को दिखाने के लिये कथा आरम्भ की जाती है।

लौकिक व्यापार से मन की निवृत्ति को शम, बाह्य विषयों से इन्द्रियों के हटाने को दम, आत्मज्ञान के लिये नित्यादि कर्मों के त्याग को उपरति, शीत उष्णादि द्वन्द्वों के सहन को तितिक्षा, निद्रा आलस्य प्रमाद को छोड़कर मन की स्थिरता को समाधान और सब में आस्तिक बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं, इन्हीं का नाम षट् साधन-सम्पत् है।

आसीद्यतिवरः कश्चि द्विवेकाश्रम-सञ्ज्ञितः ।
यत्प्रसादेन बहवो मुक्तिमार्गमुपागताः ॥

कोई "विवेकाश्रम" नामक यति था, जिसकी कृपा से अनेक अधिकारी पुरुष मुक्तिमार्ग को प्राप्त हो चुके थे।

मुक्तिमार्ग = मुक्ति का मार्ग श्रवण मनन आदि है, अथवा मुक्त्यर्थं मृग्यतेऽन्विष्यते साक्षात्क्रियते वा मुमुक्षुभिः मुक्तिमार्गः परमात्मा = मुक्ति की इच्छा से मुमुक्षु पुरुष जिसका अन्वेषण (ढूँढ) या साक्षात्कार करते हैं वह परमात्मा "मुक्तिमार्ग" है।

१—नित्यवस्तु तथा अनित्यवस्तु का विवेक, २—इहामुत्रार्थभोगविराग, ३—शम दम आदि सम्पत्, ४—मुमुक्षा—इन चारों के होने से ही वेदान्त के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। इनमें भी पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर के प्रति हेतु हैं। सबसे प्रथम नित्यवस्तु तथा अनित्य-

वस्तु का विवेक होना चाहिए, इसके विना "इहामुत्रार्थ-भोगविराग" (इस लोक और परलोक के भोगों में वैराग्य) नहीं हो सकता, विना विराग के "शम दम आदि साधन सम्पत्" नहीं हो सकती और इसके न होने से "मुमुक्षा" तथा मुमुक्षाके विना "ब्रह्मज्ञान" नहीं हो सकता, अतः सबसे पहले नित्यवस्तु = नित्यत्व, तथा अनित्यवस्तु = अनित्यत्व का विवेक होना आवश्यक है। जब पुरुष को नित्यत्व और अनित्यत्व का विवेक हो जाता है तब वह संसार को अनित्य तथा दुःखरूप समझ कर उसमें विरागपूर्वक नित्य आनन्दरूप पदार्थ (परमात्मा) के लिये यत्न करता है, इसी विषय को स्पष्टतापूर्वक वर्णन करने के लिये इस पुस्तक में "विवेक आदि" साधनों को संन्यासियों के रूपक में वर्णन किया गया है और उनमें से यह प्रथम विवेक ही "विवेकाश्रम" यति के वेष में उपस्थित होता है।

स स्वोचितं मठं लोके क्वचनापि विचारयन्।
नावाप तं मनो यत्र यतेस्तस्य प्रसीदति ॥

उस यति ने विचार करते करते संसार में कहीं भी अपने योग्य ऐसा मठ न पाया जहाँ उसका मन प्रसन्न हो सकता।

नवाङ्काङ्काङ्कनन्दत्रि गजसंख्या विलोकिताः।
मठास्तेन जगत्यस्मिँ स्तेषु लेभे स्थितिं न सः ॥

उसने इस जगत् में ८३९९९९९ मठ देखे, परन्तु उनमें उसे कहीं भी स्थिति न मिली।

यहाँ चौरासी लाख योनियों को मठरूप से कहा गया है, केवल मानुषयोनि में ही "विवेक" होता है, इसलिये अन्य योनियो में विवेकाश्रम के मन की अप्रसन्नता कही गई है ।

एवं गिरिवरारण्य सरित्सागरवापिकाः ।
पश्यता किल तेनैक्षि पाञ्चजन्याभिधो मठः ॥

इस प्रकार उत्तम से उत्तम पर्वत, वन, नदी, सागर और बावड़ी आदि अनेक स्थानों को देखते देखते उसने "पाञ्च-जन्य" नामक एक मठ देखा ।

द्विस्थूणः कामगो रम्यो नवद्वारविभूषितः ।
स्वोचिताचारनिर्वृत्ति योग्यस्तीर्थपदाश्रयः ॥

जिसके दो स्तम्भ हैं, कामग = जिसमें प्रत्येक प्रकार की कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं, अथवा जिसमें रात दिन काम-नाओं के ही गीत गाये जाते हैं, या जो विषयस्थान में चला जाता है, सुन्दर है, नौ द्वारों से सुशोभित है, जीवात्मा के निष्काम कर्म आदि उचित-आचारों की सिद्धि के योग्य है और तीर्थपद = ब्रह्म के साक्षात्कार का स्थान है ।

सर्वलोकोपभोगाप्ति परमोपायसंभृतः ।
बहुजन्मसमभ्यस्तै रवाप्यः सुकृतोच्चयैः ॥

जो मठ समस्त पृथिव्यादि लोकों के उपभोगों की प्राप्ति के उत्कृष्ट साधनों से सम्पन्न है और बहुत जन्मों में किये गये पुण्यों से प्राप्त होता है ।

जगन्मङ्गलमूर्तिश्री रामचन्द्रार्चनोचितः ।
यस्मिन्नधिष्ठिते चित्तं विदुषः संप्रसीदति ॥

और जिस परमात्मा की उपासना से विद्वानों के चित्त शुद्ध हो जाते हैं, उस जगन्मङ्गलमूर्ति श्रीरामचन्द्र जी की आराधना के योग्य यह मठ (पाञ्चजन्य) है।

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना = ईश्वर के अनुग्रह से ही पुरुषों को अद्वैतवासना होती है, ईश्वर की भक्ति के विना ईश्वर का अनुग्रह भी नहीं होता है, उसीकी भक्ति से भक्तों के मन निर्मल होते हैं, अविद्या की ग्रन्थि टूट जाती है और आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, उसी ईश्वर की भक्ति के योग्य यह मानुष देह है।

प्रसङ्गवशात् भक्ति का कुछ निरूपण किया जाता है, जिस का वर्णन श्रीस्वामी मधुसूदनाचार्य्यजी ने "भक्तिरसायन" में इस प्रकार किया है:—

"द्रुतस्य भगवद्धर्मा द्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्ति र्भक्तिरित्यभिधीयते ॥"

भगवान् के गुणों को सुनकर द्रवीभूत मन की गङ्गाप्रवाह के समान निरन्तर भगवदाकार-वृत्ति को "भक्ति" कहते हैं।

"द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्य वस्तुनः ।
संस्कारवासनाभाव भावनाशब्दभागसौ ॥
शिथिलीभावमात्रं तु मनो गच्छत्यतापकैः ।
न तत्र वस्तु विशति वासनात्वेन किञ्चन ॥"

सात्त्विकभाव को प्राप्त हुए कोमल चित्त में किसी वस्तु का जो आकार स्थिर हो जाता है, उस आकार को "संस्कार, वासना, भाव, भावना" आदि शब्दों से कहते हैं ।

अतापक वस्तु (मन पर जिसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता उस) से मन शिथिलमात्र होता है, अच्छे प्रकार द्रवीभूत नहीं होता, अतएव ऐसे मन में वस्तु वासनारूप से प्रवेश नहीं करती ।

इसलिये भगवान् के गुणों का श्रवण करके जिस समय एक बार ही भक्त का मन हर्ष से द्रवीभूत हो जाता है, प्रेम तथा आनन्द से गद्गद हो उठता है और भक्तिरस में डूब जाता है, उस समय भगवान् की जैसी मूर्त्ति उस मन में अङ्कित हो (खुद) जाती है वह चित्तपट से फिर कभी नहीं मिटती तथा उस मन में बाह्य विषय भी प्रवेश नहीं कर सकते क्योंकि जिस मनोमन्दिर में श्रीरामचन्द्र (ब्रह्म) का निवास है, वहाँ (सूर्य की विद्यमानता में जैसे अन्धकार नहीं रह सकता ऐसे ही) तुच्छ विषयवासनाएँ भी प्रवेश नहीं कर सकतीं, अत एव वह मन शुद्ध होकर आत्मसाक्षात्कार का अधिकारी हो जाता है ।

बहुना किमिहोक्तेन पाताले भुवि वा दिवि ।
निवासयोग्यो नान्योऽस्ति मठः सन्न्यासिनां सताम् ॥

और बहुत कहने से क्या ! श्रेष्ठ सन्न्यासियों के निवास के योग्य पाताल, पृथिवी और द्युलोक भर में (पाञ्चजन्य से भिन्न) और कोई मठ नहीं है । यद्यपि स्वर्गादि लोकों में

मानुषदेह की अपेक्षा बहुत उत्तम दिव्यदेह हैं तथापि दिव्य-शरीरों में यथारुचि भोग्यपदार्थों के निरन्तर प्राप्त होते रहने से उनमें वैराग्य उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत उत्तरोत्तर राग की ही वृद्धि होती रहती है अतः जीव सदा विषयोन्मुख ही रहता है। और मानुषदेह में तो अल्प भोग के कारण इच्छानुसार भोग्य वस्तु के न मिलने पर क्लेश होता है तथा उनके उपार्जन में भी अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, अतः भोगों में दोषदृष्टि से वैराग्य हो जाता है और आत्मज्ञान के लिये पुरुष यत्न करता है, इसलिये मानुष देह सब से उत्तम माना गया है।

स विवेकाश्रमो भिक्षु दिंक्षु चङ्क्रमणार्दितः ।
स्वोचितं तं मठं वीक्ष्य तत्र निष्ठामुपागमत् ॥

लोक लोकान्तरों में बार बार तथा निरन्तर आवागवन से पीड़ित होकर वह विवेकाश्रम भिक्षु पाञ्चजन्यमठ को अपने योग्य समझ कर उसमें निवास करने लगा।

क्षामे विवेकाश्रमनाम्नितत्र यतीश्वरेलब्धपदेकथञ्चित् ।
उपाजगामाथ शनैर्हसन्ती काप्यङ्गनानङ्गविलासभूमिः ॥

तपश्चर्य्या से कृश विवेकाश्रम नामक यतीश्वर को किसी प्रकार (पूर्व जन्मों के पुण्यों के उदय होने के कारण) पाञ्च-जन्य मठ के प्राप्त होते ही काम को उद्दीपन करने वाली चेष्टाओं से युक्त रति के समान कोई अपूर्व नारी मन्द मन्द हँसती हुई वहां आ पहुँची।

सा पञ्चमालापमुपात्तगाना स्रक्चन्दनालिप्तशरीरयष्टिः ।

प्रतप्तजाम्बूनदरम्यवर्णा पीतासवा घूर्णितनेत्रपद्मा ॥

वह नारी पञ्चम स्वर में गा रही थी, पुष्पमाला और चन्दन से उसकी शरीरलता विभूषित थी; अत्यन्त तपे हुए सोने के समान सुन्दर उसका रूप था और मद्य पिये हुए थी जिसकी मस्ती से उसके नेत्र घूम रहे थे।

दिव्यप्रसूनप्रचितप्रगल्भ धम्मिलभारोपचितैर्विलासैः।
आप्यारुरुक्षून् परमं पदं त त्सम्मोहयन्ती जनदुर्निवारा॥

दिव्य पुष्पों से गुँथे हुए सुन्दर केशों के भार से उसका विलास बढ़ रहा था, जिसके प्रभाव से विष्णुके परमपद को पाने की इच्छा वाले मुमुक्षुओं को भी वह विमोहित कर रही थी, फिर सामान्यजन उसका निवारण क्या कर सकते थे !

स विवेकाश्रमस्तन्वीं तां वीक्ष्यातीव विस्मितः।
मनसा चिन्तयामास परिम्लानमुखाम्बुजः॥

विवेकाश्रम का मुखकमल उस नारी को देखकर कुम्हला गया और अत्यन्त आश्चर्य को प्राप्त होकर वह मन ही मन में इस प्रकार विचार करने लगा।

बह्वायासैरिदं स्थानं मया प्राप्तं चिरात् किल।
अत्राप्ययं महाविघ्नः कुतस्त्यः समुपागतः॥

मैंने बहुत काल के पश्चात् अनेक कष्ट सहन करके इस स्थान को प्राप्त किया था, यहां भी यह महाविघ्न कहाँ से आ गया?

वैराग्यतीर्थसन्न्यासी प्राणेभ्योऽपि प्रियो मम ।
अस्यां सत्यां कथञ्चात्र स्थितिं प्राप्स्यति कातरः ॥

"वैराग्यतीर्थ" सन्न्यासी जो मुझे प्राणों से भी प्यारा है, वह भीरु इस स्त्री की उपस्थिति में यहां कैसे ठहर सकेगा ?

शमारण्यदमारण्या दीनां सन्न्यासिनां तथा ।
मयि वैराग्यतीर्थे चा सति कात्र स्थितेः कथा ॥

मेरे और वैराग्यतीर्थ के अभाव में शमारण्य, दमारण्य तथा उपरमारण्य आदि सन्न्यासियों की स्थिति की तो कथा ही क्या है ! (अर्थात् जहाँ विवेक और वैराग्य ही नहीं हैं वहां शम दम आदि क्यों कर रह सकते हैं ।)

एवं सति मुमुक्षापि तापसी नागमिष्यति ।
उच्छिन्ना मुक्तिरेषा य द्वयं सर्वे निराश्रयाः ॥

ऐसी दशा में "मुमुक्षा" तपस्विनी भी यहां काहे को आवेगी ? उसके न आने से यह "मुक्ति" भी गई ही समझिए, हाय ! इस के अभाव में हम सब आश्रयहीन हो जायँगे !

असत्समाजसंवास स्थानमेष मठः किल ।
अत्रेयं का दुर्विदग्धा वेतालीव समागता ॥

यह मठ तो हम विरक्तजनों के समाज के निवास का स्थान है, यहाँ यह कौन धूर्ता पिशाची सी आ गई ?

पदापि युवतीं भिक्षु र्न स्पृशेद्दारवीमपि ।
इति वृद्धोक्तयः सन्ति तत्कुतः स्यात् सहस्थितिः ॥

"काठ की स्त्री को भी भिक्षु पाँव से भी स्पर्श न करे"— इत्यादि वृद्धों के वचन हैं, तो स्त्री के साथ एक स्थान में रहना तो दूर रहा ।

निर्मृष्टघृतमप्याज्य पात्रं सन्निधिमुष्मणः ।
प्राप्य द्रवत्येव तथा योषितां सन्निधौ यतिः ॥

जिस पात्र में से घी निकाल लिया गया हो वह पात्र भी अग्नि की समीपता से जैसे पिघलने लगता है, ऐसे ही यति का यतिपन भी स्त्रियों की समीपता से नष्ट हो जाता है ।

जिताहारोऽथवा वृद्धो विरक्तो व्याधितोऽथवा ।
यतिर्न गच्छेत्तं देशं यत्र स्यात्प्रतिमा स्त्रियाः ॥

जहाँ स्त्री की प्रतिमा हो यति वहाँ न जाय, चाहे वह जिताहार हो, बूढ़ा हो, विरक्त हो अथवा रोगी हो ।

जिसने अपने आहार को जीत लिया हो अर्थात् जो पेट के दो भाग अन्न से और एक भाग जल से भरता हो तथा एक भाग वायु के लिये रखता हो उसे "जिताहार" कहते हैं ।

विषवल्लिमरुद्विन्ध्ये बाधते प्राणिनं यथा ।
योषित्स्पर्शी तथा वायु र्बाधते मस्करीश्वरम् ॥

जिस प्रकार विन्ध्य पर्वत पर विषवल्लि (जहरीली बेल) का वायु प्राणियों को पीड़ित करता है, इसी प्रकार स्त्रीके स्पर्श से दूषित वायु भी सन्न्यासी को पतित कर देता है ।

सम्भाषणावलोकादि दूरे तिष्ठतु योषिताम् ।
अहिदंशस्मृतिरिव स्मृतिस्तासां मृतिप्रदा ॥

स्त्रियों के साथ वार्त्तालाप और उन्हें देखना आदि तो दूर रहा, उनकी स्मृति भी साँप के डसने के स्मरण के समान मृत्यु को देनेवाली है ।

ऐसा प्रसिद्ध है कि यदि मनुष्य सर्पादिविषयुक्त वस्तु को खा जाय और उसको उस विष का ज्ञान न हो तो वह विष प्रायः उसको बाधा नहीं करता, परन्तु खाये हुए उस विष का जिस समय ज्ञान हो जाता है, उसी समय विष का प्रभाव उस पर हो जाता है ।

योषिन्मूला बुधैः प्रोक्ताः सर्वेऽनर्थाः शरीरिणाम् ।
अपि ब्रह्मेन्द्रचन्द्रादि देवानां का कथा नृणाम् ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र आदि दिव्य शरीरधारियों के भी सब अनर्थ स्त्रियों के ही कारण हुए हैं—ऐसा विद्वानों ने कहा है, फिर तुच्छ मनुष्यों की तो क्या गणना है !

अपि राज्यं नरकवत् स्वर्णं पश्येच्च लोष्ठवत् ।
स्त्रियं कुणपवत् पश्येद्यस्तादृग्दुर्लभो यतिः ॥

ऐसा यति दुर्लभ है जो राज्य को नरक के समान, स्वर्ण को मिट्टी के ढले के सदृश और स्त्री को मृतक शरीर के तुल्य समझे ।

सम्भाषार्हा ततो नैषा योषा दोषातिगौरवात् ।
प्रमोषाय प्रवृत्तापि यतेर्वासस्य दैवतः ॥

अतः दैवयोग से यति के मठ आदि को छीनने के लिये प्रवृत्त हुई भी यह स्त्री बहुत दोषों वाली होने के कारण सम्भाषण करने योग्य नहीं है ।

न चान्योऽत्र नरः कश्चि द्योऽस्याः पृच्छेच्चिकीर्षितम् ।
गमिष्यतीयं किमितः किंवा स्थास्यति सन्ततम् ॥

दूसरा ऐसा कोई पुरुष यहाँ नहीं है जो इससे पूछे कि यह यहाँ क्या करना चाहती है ? और क्या यहाँ से यह जायगी या सदा यहीं रहेगी ?

अथवा वयमेवैतां पृच्छामोऽस्याश्चिकीर्षितम् ।
प्रत्यक्प्रवणचित्तानां वराकी किं करिष्यति ॥

अथवा मैं ही इससे इसका मनोरथ पूछता हूँ, जिनका मन प्रत्यग् आत्मा में मग्न है उनका यह बेचारी क्या कर सकती है ?

विषयास्तावदेवैते प्रगल्भन्तेऽबलादयः ।
प्रत्यगात्मरतिर्यावद्दृढा नोदेति देहिनः ॥

स्त्री आदि विषय तभी तक बल करते हैं जब तक कि अन्तर आत्मा में मनुष्य की दृढ़ प्रीति उत्पन्न नहीं होती ।

आत्मप्रेम्णि समुत्पन्ने विषयप्रेम नश्यति ।
योषित्प्रेम्णि समुत्पन्ने मातृप्रेमेव कामिनाम् ॥

जैसे कि कामी पुरुषों का अपनी स्त्री में प्रेम उत्पन्न होने से मातृप्रेम नष्ट हो जाता है । ठीक ऐसे हो आत्मा में प्रेम उत्पन्न होने से विषयप्रेम नष्ट हो जाता है ।

आत्मतत्त्वविदः का भी र्योषित्पिण्डात्मकल्पितात् ।
बिभेति न हि रज्जुज्ञो रज्जुसर्पात्परीक्षितात् ॥

स्त्रीके कल्पित शरीर से आत्मतत्त्ववेत्ता को क्या भय है? क्योंकि जिस पुरुष का रज्जु में कल्पितसर्प का भ्रम दूर हो गया है, यथार्थरज्जुको जाननेवाला वह पुरुष उस ज्ञातरज्जुसर्प से कभी डरता नहीं है।

पुंस्त्रीषण्ढविभागाख्यं तमस्तावदुदेति च।
यावन्नोदेति चिद्भानुश्चित्तोदयमहीभृति॥

पुरुष, स्त्री, नपुंसक आदि का भेदरूप अन्धकार तभी तक रहता है जब तक चिद्रूप–सूर्य्य, "चित्त" रूप उदयपर्वत पर उदय नहीं होता। जैसे उदयगिरि पर सूर्य्यभगवान् के उदय होते ही पृथिवीतल से अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार आत्मज्ञान के होते ही भेदरूप अज्ञान नष्ट हो जाता है।

वैराग्यतीर्थसचिवे विवेकाश्रमसंज्ञके।
मयि व्याघ्र इवाजानां प्रौढिः का वास्ति योषिताम्॥

जैसे भेड़ बकरियों का व्याघ्र पर बल नहीं चल सकता, ऐसेही वैराग्यतीर्थ सहायक के होते हुए मुझ विवेकाश्रम पर क्या स्त्रियों का बल प्रयोग हो सकता है?

इति निश्चित्य सन्यासी दासीमिव पुरः स्थिताम्।
मन्यमानः स्त्रियं कान्तामूचेऽनूचानसत्तमः॥

इस प्रकार निश्चय करके वह अनूचानसत्तम (जिस पुरुष ने गुरु से अङ्गोंसहित वेद को पढ़ा हो उसे "अनूचान" तथा उनमें से भी अत्यन्त श्रेष्ठ वेदवेत्ता को "अनूचानसत्तम" कहते हैं) संन्यासी सामने खड़ी हुई उस सुन्दर स्त्री को दासी के समान समझता हुआ बोला।

कासि कस्यासि ललने कुत्रत्या किञ्च वाञ्छसि ।
नोचितास्मिन्मठे भाति स्थितिस्तव वरानने ॥

हे ललने ! तू कौन है ? किसकी है ? कहाँ की रहनेवाली है ? और क्या चाहती है ? हे वरानने (सुमुखि) ! इस मठ में तेरा ठहरना उचित नहीं जान पड़ता ।

यत्र सन्न्यासिनः शान्ता दान्ता उपरतास्तथा ।
तितिक्षवः समाधिस्थाः पश्यन्त्यात्मानमात्मना ॥
यत्र देहेन्द्रियप्राण मनोबुद्धिभ्य ईक्ष्यते ।
विविक्तः प्रत्यगात्मायं यतिवर्य्यैर्मुमुक्षुभिः ॥
यत्र वेदानुवचनै र्यज्ञैर्दानैस्तपश्चयैः ।
तथैवानशनैरात्म ज्ञानमिच्छन्ति सूरयः ॥
इहामुत्रफलोद्विग्नाः शक्तितात्पर्य्यनिर्णयम् ।
ब्रह्मण्यसङ्गे कुर्वन्ति श्रुतीनां यत्र पण्डिताः ॥
पाञ्चजन्याभिधे तस्मि न्मठेऽशठजनाश्रये ।
विश्वमन्दिरयोग्यायाा स्तव नैवोचिता स्थितिः ॥

जहाँ शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाधिस्थ संन्यासी अपने आत्मा (संस्कृत मन) से आत्मा का साक्षात्कार करते हैं । जहाँ मुमुक्षु श्रेष्ठ यति लोग प्रत्यगात्मा को देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि से पृथक् जान कर उसका दर्शन करते हैं । जहाँ विद्वान् लोग वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, अनेक प्रकार के तप और उपवास आदि से आत्मज्ञान की कामना करते हैं और पण्डितजन इस लोक तथा परलोक के

भोगों से विरक्त हो कर जिस मठ में निवास करके असङ्ग ब्रह्म के विषय में श्रुतियों के तात्पर्य का निर्णय करते हैं, ऐसे सज्जनों के निवास के योग्य इस पाञ्चजन्य मठ में तेरा ठहरना उचित नहीं है, किन्तु तू पाञ्चजन्य मठ को छोड़ कर अन्य संसार भर के मन्दिरों (शरीरों) में ही रहने योग्य है ।

विवेकाश्रमवाक्यं त दाकर्ण्याकर्णलोचना ।
वक्तुं प्रत्युत्तराण्येषां क्रमेणैव प्रचक्रमे ॥

सुविशाल नेत्रोंवाली वह नारी, विवेकाश्रम के इन वाक्यों को सुनकर क्रमपूर्वक प्रत्युत्तर देने लगी ।

चित्तवृत्तिरहं भद्र ज्येष्ठास्मि भगिनी तव ।
त्वं पुनर्मां न जानासि यदुत्पन्नोऽसि संप्रति ॥

हे भद्र ! मैं तेरी बड़ी बहिन "चित्तवृत्ति" हूँ, तू मुझे नहीं जानता, क्यों कि तू अभी उत्पन्न हुआ है ।

विवेक की उत्पत्ति के पहले से ही विषयाकार "चित्त-वृत्ति" अनादि काल से चली आती है, अतः विवेक की अपेक्षा वह बड़ी है । विवेक तथा विषयाकार चित्तवृत्ति दोनों अन्तःकरण के ही परिणाम हैं, अतः एक अन्तःकरण से उत्पन्न होने के कारण भाई और बहिन के समान हैं ।

ये मठास्त्वया त्यक्ता यश्चेदानीमुपाश्रितः ।
तान् सर्वान् पालयन्तीं मां विद्धि वत्साधिदैवताम् ॥

हे वत्स ! जो जो मठ तूने त्याग दिये हैं और अब जिस मठ में तू विद्यमान है उन सबकी पालना करनेवाली अधि-देवता मुझे ही जान ।

वाञ्छामि विषयान् सर्वान् शब्दादीन् हृदयङ्गमान् ।
तदुपस्थापकं तत्त त्कर्मापीच्छामि शोभनम् ॥

मैं मनको हरनेवाले शब्द, रूप, रस आदि समस्त विषयों को चाहती हूँ और उन शब्द आदि को सम्पादन करनेवाले शुभ कर्मों को भी चाहती हूँ ।

न कर्मत्यागमिच्छामि तत्फलत्यागमेव च ।
यथेच्छति भवान् मूढः कर्मन्दित्वमुपागतः ॥

मैं कर्मों के त्याग की इच्छा नहीं रखती, और न उनके फलों को ही छोड़ना चाहती हूँ, जैसे तू मूर्ख संन्यासी बनकर कर्म और उनके फलों को छोड़ना चाहता है ।

त्यक्त्वा पुत्रैषणां वित्तै षणां लोकैषणामपि ।
भिक्षा कार्य्या मतिगृह मितीदं साहसं महत् ॥

पुत्रैषणा, वित्तैषणा (धन की इच्छा) और लोकैषणा को छोड़ कर घर घर भिक्षा माँगनी चाहिए, ऐसी मति सर्वथा विचार से शून्य है !

यस्यादौ सन्निवेशोऽध्ययनमपि तथा यस्य गेहेषु कान्ते-
ष्वर्थानुष्ठानमिष्टं विविधवसुचयैर्वेद एष प्रहेयः ।
भ्रान्ते यत्सन्निवेशोऽध्ययनमपि तथा यस्य कान्तारदेशे-
ऽर्थानुष्ठानं च भिक्षा श्रुतिचय इह सोऽहेय इत्यज्ञदौस्थ्यम् ॥

आरम्भ में होनेवाले जातकर्म आदि संस्कारों का जिस वेद में विधान है, तथा जिस वेद का अध्ययन भी प्रथ-

मावस्था में ही होता है और रमणीय घरों में अनेकविध धन धान्य आदि से यज्ञ आदि का अनुष्ठान करना जिस वेद में लिखा है, वह कर्मोपासनाकाण्डरूप वेद तो त्याज्य है ! और वृद्धावस्था में किये जाने योग्य संन्यास का जिसमें विधान है तथा जङ्गल में जिसका अध्ययन किया जाता है और भिक्षा-रूप अर्थ का अनुष्ठान ही जिसमें विधान कियां गया है ! वह ज्ञानकाण्डरूप श्रुतिसमूह ग्राह्य है ! इत्यादिक मूर्खों की विपरीत मति है ।

ज्योतिष्टोमाद्द भवेत्स्वर्ग इतीयं गुडजिह्विका ।
नग्नो मुण्डश्चरेद्द भिक्षा मिति तत्त्वार्थदं वचः ॥

"ज्योतिष्टोम याग से स्वर्ग होता है"—यह तो गुड़जीह्विका है ! और मूँड मुँडाकर और नंग धड़ंग हो कर भीक माँगता फिरे–यह वचन तत्त्वार्थ (मुक्ति) के देनेवाला है !!

गुड़जिह्विका न्याय—जैसे बालक को कड़वी औषध गुड़ में मिलाकर दी जाती है कि वह गुड़ के लोभ से औषध को खा जावे, ऐसे ही ज्योतिष्टोमादि याग से स्वर्गप्राप्ति का प्रलो-भन दिया गया है ।

इतीमां कल्पनां पूर्व जन्मन्यकृतसत्क्रियाः ।
निर्भाग्या रचयन्त्यज्ञा रङ्का नाथविमोहिनः ॥

इस प्रकार की कल्पना वे निर्भाग्य, दरिद्र, अनाथ और मूर्ख लोग ही किया करते हैं, जिन्होंने कि पूर्व जन्म में सत्कर्म नहीं किये हैं ।

अहो ! सौभाग्यमेतेषां मुण्डानां भिक्षया महत् ।
यदेतद्वचनाद्भूपा हित्वा राज्यं श्रिता वनम् ॥

अहो ! इन सिरमुण्डों को भिक्षा आदि से इतना महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि इनके कहने में आकर राजा लोग राज्यों को छोड़ कर जङ्गलों में चले गये !

भिक्षाचर्य्यं श्रुतिप्रोक्त मित्यवश्यं यदीष्यते ।
श्येनसन्दंशमुख्यैः किं मपराद्धमितीर्य्यताम् ॥

यदि सन्न्यासी लोग ऐसा कहें कि "अथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति" इत्यादि श्रुति से भिक्षाचरण का विधान किया गया है इस लिए भिक्षाचरण अवश्यमेव इष्ट का साधन है, तो श्येन सन्दंश आदि यागों ने क्या अपराध किया है ? वे भी तो श्रुति से विधान किये गये हैं, उन्हें इष्ट का साधन क्यों नहीं मानते और उनका भी अनुष्ठान क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर कहो !

'श्येनेनाभिचरन् यजेत, सन्दंशेनाभिचरन् यजेत्, गवाभिचर्य्यमाणो यजेत"—इत्यादि श्रुतियां उत्कट-क्रोधाक्रान्त पुरुषों के लिये श्येन, सन्दंश और गो आदि नाम के अनेक यागों का विधान करती हैं, इन यागों को करने से शत्रु की मृत्यु अवश्य हो जाती है, परन्तु करनेवाले को मरणानन्तर नरक की प्राप्ति होती है अतः ये मारणकर्म पुरुष के इष्ट (स्वर्ग आदि सुख) के जनक नहीं हैं । यदि उत्कटक्रोध के वशीभूत हो कर कोई पुरुष अपने शत्रु को खङ्ग आदि से मारेगा तो वह राजा द्वारा प्राणदण्ड का भागी होगा और उसके आश्रित प्राणधारण करने वाले स्त्री पुत्र आदि अन्नादि विना कष्ट भोगेंगे—इत्यादि दृष्ट

दुःखों से बचाने के लिये दयापरायण हो कर श्रुति ऐसा जानती हुई कि यह नरक को तो अवश्य ही जायगा अतः यदि हो सके तो दृष्ट दुःखों से इसकी और इसके बन्धुओं की रक्षा करनी चाहिए, इस अभिप्राय से उस उत्कट क्रोधाभिभूत पुरुष के लिये श्येन सन्दंश गो आदि यागों का विधान करती है। अतः चित्तवृत्ति कहती है कि श्येन आदि यागों के समान भिक्षाचरण भी इष्ट का साधन नहीं है, वह केवल उनके पूर्वजन्मों के अन्यथाचरणों का पारमेश्वरदण्ड है।

त्यक्त्वा सर्वाणि कर्माणि श्रौतस्मार्त्तानि सर्वथा।
परमः क्रियते धर्मो भिक्षाचर्य्यं मुमुक्षुभिः॥

श्रौत और स्मार्त्त सब कर्मों को सर्वथा त्याग कर मुमुक्षु महात्मा बड़ा भारी धर्म कर रहे हैं जो घर घर भीक माँगते फिरते हैं!

श्रुतिविहित कर्म को श्रौतकर्म और स्मृतिविहित कर्म को स्मार्त्त कर्म कहते हैं।

भिक्षाञ्च कुर्वतामेषां तदलाभे बुभुक्षया।
मरणं वा भवेन्निन्द्यं करणं वापि किञ्चन॥

और भिक्षा माँगते माँगते यदि इन्हें कुछ न मिले तो या तो भूक के मारे मर जांय या कोई निन्दनीय कर्म (चोरी आदि) करना पड़े!

वित्तैषणादिव्युत्थान प्रतियोग्यात्मचिन्तनम्।
विधायाभिवदन् वेदो भिक्षाचर्य्यं न लज्जते॥

"वित्तैषणा (धन की इच्छा), पुत्रैषणा (पुत्र पौत्र आदि की इच्छा) और लोकैषणा (परलोक स्वर्ग आदि की कामना) को छोड़ कर आत्मचिन्तन करना चाहिए"—इस प्रकार का विधान करके "भिक्षाचर्य्य" को कहता हुआ वेद लज्जित क्यों नहीं होता ?

मान प्रतिष्ठा आदि संसारसम्बन्धी सब प्रकार की इच्छाओं में पूर्वलिखित तीनों इच्छाओं का तात्पर्य है ।

वदन्ति वृद्धाः शतशो यथा यज्ञस्तथा बलिः ।
निर्भाग्यानां श्रुतिः कावा भिक्षातोऽन्यां क्रियां वदेत् ॥

अनेक वृद्ध पुरुष बार बार ऐसा कहते हैं कि "जैसा यक्ष वैसा बलि", फिर श्रुति इन निर्भाग्यों के लिये भिक्षा से भिन्न और किस क्रिया का विधान करे ?

आत्मा द्रष्टव्य इत्याद्या यद्वेदान्ताः प्रचक्षते ।
तदस्मदादिभिः किं वा नात्मा प्रत्यक्षमीक्ष्यते ॥

"आत्मा वारे द्रष्टव्यः"—इत्यादि वेदान्त जिस आत्मा को द्रष्टव्य कहते हैं, क्या उस आत्मा को हम प्रत्यक्ष देख नहीं रहे हैं ?

हस्तपादाद्यवयव सन्निवेशविशेषयुक् ।
प्रत्यक्षमीक्ष्यते ह्यात्मा विधिस्तत्र निरर्थकः ॥

हाथ पैर आदि अङ्गों की विशेष रचनावाला यह शरीररूप आत्मा तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है । फिर इसके विषय में वेद का यह कहना व्यर्थ ही है कि "आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए ।"

अथौपनिषदः कश्चि देहादन्योस्ति सोपि च ।
सर्वेषां प्रिय एवात्मा तदर्थश्च प्रियं जगत् ॥
तत्किं वित्तसुतादीनां प्रियाणामात्मनः परम् ।
त्यागोऽयमुच्यते कस्मा देहश्चायं निपीड्यते ॥

यदि उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा, देह से भिन्न कोई अन्य वस्तु है और वह देह से भिन्न आत्मा भी सब को प्यारा है तथा उसीके लिये यह जगत् भी प्यारा है, तो फिर अत्यन्त प्रिय धन पुत्र आदिरूप आत्मा के त्यागने का विधान श्रुति क्यों करती है और क्यों इस शरीर को पीड़ा दी जाती है ?

अर्थात् देह से भिन्न यदि और कोई आत्मा मानोगे तो वह पुत्र दारा आदि रूप ही होगा और उसी पुत्रादिरूप आत्मा के लिये शरीरेन्द्रियादि जगत् भी प्यारा होगा, फिर उनके त्याग का विधान क्यों करते हो ?

य औपनिषदः कश्चि देहादन्यः प्रियः परः ।
आत्मास्ति तं तर्पयन्तु विषयैरिन्द्रियार्पितैः ॥

उपनिषदों में उपदेश किया गया देह से भिन्न अत्यन्त प्रिय जो कोई भी पुत्र दारा आदिरूप आत्मा है, उसे इन्द्रियों से अनुभव किये गये विषयों द्वारा तृप्त करो !

हन्तात्मा क्लिश्यते किं वा स्नानमृच्छौचमुण्डनैः ।
अधः शय्यारण्यवास ब्रह्मचर्य्यशमादिभिः ॥

हहा ! स्नान, मिट्टी से शौच, सिर आदि का मुण्डन, भूमि पर शयन, वन में वास, ब्रह्मचर्य्य और शम दम आदि कठोर साधनों से आत्मा को क्यों क्लेश देते हो ?

शृण्वन्तु मधुरान् शब्दान् वीणानारीमुखोद्गतान् ।
स्पृशन्तु मृदुलाः शय्या स्तथा सारङ्गलोचनाः ॥
पश्यन्तु कनकाभानि नारीरूपाणि सर्वदा ।
भक्षयन्तु च लेह्यादि विधान्यन्नान्यहर्निशम् ॥
भाले कुरुध्वं कस्तूरीं मौलौ कुसुममालिकाः ।
चिन्तयन्तु सदा सौख्यं मम भूयो भवेदिति ॥

वीणा और नारीमुख से गाये गये सुन्दर सुन्दर गीतों को सुनो, कोमल कोमल शय्या तथा मृदु मृदु मृगनयनी स्त्रियों का स्पर्श करो, सुवर्ण के समान कान्तिवाले स्त्रियों के रूपों का सदा अवलोकन करो, चटनी आदि नाना प्रकार के स्वादिष्ठ पदार्थों का रात दिवस सेवन करो, माथे पर कस्तूरी लगाओ, गले में फूलों के हार पहनो और सदा यही चिन्तन करो कि मेरे ये सुख बार बार होवें !

इत्यादि बहु जल्पन्तीं चित्तवृत्तिं किलाबलाम् ।
विवेकाश्रम आहैतां हसन् किञ्चिन्निजाग्रजाम् ॥

इस प्रकार बहुत बक बक करती हुई अपने से ज्येष्ठा अबला चित्तवृत्ति को विवेकाश्रम मुस्करा कर बोला ।

चित्तवृत्ते ! विपर्य्यस्ता सती त्वं भाषसे बहु ।
तदस्तु नाम किं वा नः क्षीयते बहुभाषितैः ॥

हे चित्तवृत्ते ! तू विपरीत बुद्धिवाली है अतएव बहुत बक रही है । अच्छा कोई बका करे, किसी के बहुत बकने से हमारी क्या हानि है !

अविवेकतमोजालं निराकर्त्तुं न हि क्षमः ।
सूर्य्यकोटिप्रभापुञ्जः का कथात्रान्यतेजसाम् ॥

जब अज्ञानान्धकार के समूह को हटाने में करोड़ों सूर्यों के प्रकाशसमूह भी समर्थ नहीं हो सकते हैं तब और प्रकाशों की तो बात ही क्या है !

अविद्यायां निमग्नानां सैवातिमधुरायते ।
विट्कृमिः किं विजानाति माधुर्य्यं शर्कराश्रयम् ॥

अविद्या में डूबे हुए पुरुषों को अविद्या ही अधिक प्रिय लगती है । क्या विष्ठा का कीड़ा खाँड की मिठास को कभी अनुभव कर सकता है ?

लोकालोकात्परं भाग माश्रिता ये हि जन्तवः ।
ते किं जानन्ति रूपाणि सुवर्णादिगतान्यपि ॥

"लोकालोक" नामक पर्वत के अन्धकार वाले भाग में जो प्राणी रहते हैं वे प्रकाश वाले भाग के सुवर्ण आदि पदार्थों के रूपों को क्या जान सकते हैं ?

पुराणों में "लोकालोक" नामक एक पर्वत का वर्णन है, उसकी एक ओर सदा प्रकाश और दूसरी ओर सदा अन्धकार रहता है ।

अविवेकी विजानाति तत्त्वार्थं यदि कश्चन ।
बधिरोऽपि विजानीया त्तन्त्रीकण्ठोत्थितान् स्वरान् ॥

यदि कोई अज्ञानी तत्त्वार्थ को जान सकता है तो बहरा पुरुष भी वीणा और कण्ठ से उत्पन्न हुए स्वरों को समझ सकेगा ।

तत्त्वमाधुर्य्यविज्ञः स्या द्यद्यविद्यैकसंश्रयः ।
मातृदुग्धरसाभिज्ञ स्तदा स्यात्कमठार्भकः ॥

यदि अत्यन्त अज्ञानी पुरुष ब्रह्म के स्वरूप को साक्षात्कार कर सकता है तो कछुए का बच्चा भी अपनी मा के दूध के रस को जान सकता है !

अज्ञानाभिनिविष्टानां तत्त्वगन्धोऽपि दुर्मिलः ।
कर्पूरसौरभाभिज्ञा भिल्लाः किं लशुनप्रियाः ॥

अज्ञान के कार्य इन शरीरादिकों में आत्मबुद्धि वाले पुरुषों को तत्त्व का गन्ध भी दुष्प्राप्य है। लहसुन खाने वाले भील क्या कर्पूर के सुगन्ध को जान सकते हैं ?

त्रिभेदतापतप्तानां तत्त्वच्छाया सुखं कुतः ।
शीतस्पर्शस्तुरङ्गाणां पतङ्गाङ्गयुजां कुतः ॥

आध्यात्मिक, आधिदैव और आधिभौतिक रूप तीन प्रकार के ताप से सताये हुए पुरुषों को तत्त्वच्छाया का सुख कहाँ ! सूर्य्य—भगवान् के रथ में जुते हुए घोड़ों को शीत स्पर्श की प्राप्ति कहाँ !

दुःख (ताप) तीन प्रकार के हैं। १—आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के हैं, शारीरिक तथा मानसिक, शारीरिक जैसे—ज्वर, रक्तपित्त, अतिसार, प्रमेह, कुष्ठ आदि, और मानसिक—जैसे राग, द्वेष, मोह आदि। २—आधिदैव, जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, वज्रपात, आँधी आदि। ३—आधिभौतिक, जैसे व्याघ्र, सर्प, चौर, अन्यायतत्पर राजा आदि।

चित्तवृत्ते ! ततोऽभद्रे ऽभिनिवेशं परित्यज ।
विषयेषु विधेह्यस्म द्वचनेष्ववधानताम् ॥

हे अभद्र चित्तवृत्ति ! इन कारणों से विषयसम्बन्धी आग्रह को छोड़ कर तू मेरे वचनों पर ध्यान दे ।

चित्तवृत्ते ! समाश्लिष्य प्रियचित्सुखमीश्वरम् ।
दुःखान्तविषयासङ्गं वाञ्छन्ती किन्न लज्जसे ॥

हे चित्तवृत्ते ! प्रिय चित् सुख रूप ईश्वर का आलिङ्गन करके भी, तू दुःखदायी विषयों के सङ्ग को चाहती हुई लाज्जित क्यों नहीं होती ?

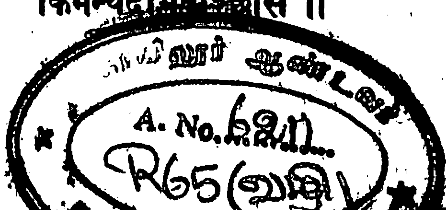
चित्तवृत्ते ! मावृणीष्व विषयान् व्यभिचारिणः ।
सति प्रियेऽनुरक्तेऽस्मि न्नात्मन्यव्यभिचारिणि ॥

हे चित्तवृत्ते ! सत्, प्रिय, अनुरक्त (सर्वत्र ओतप्रोत) इस नित्य आत्मा के होते हुए मिथ्या और अनित्य विषयों का सेवन मत कर ।

आत्मानन्दाम्बुधिस्थाया श्चित्तवृत्ते तवापरैः ।
किं सुखैर्दुग्धपाथोधि मीनस्येव पयोऽन्तरैः ॥

जैसे क्षीरसागर की मछली क्षारसागर (खारे समुद्र) के जल से तृप्त तथा प्रसन्न नहीं होती, हे चित्तवृत्ते ! इसी प्रकार आत्मानन्द समुद्र में निमग्न हो कर तू इन्द्रियजन्य तुच्छ सुखों से क्योंकर प्रसन्न और तृप्त होती है ?

आत्मन्यानन्दवार्धौ त्व मुन्मज्जसि निमज्जसि ।
चित्तवृत्ते ! विषयतः किमन्यदभिवाञ्छसि ॥



हे चित्तवृत्ते ! जब तू आनन्द-सागर आत्मा में डुबकी लगाकर प्रतिदिन ऊपर और नीचे आती जाती है, तब फिर विषयों से और क्या चाहती है ?

आत्मैव सुखरूपस्ते चित्तवृत्ते ! प्रियं श्रिताः ।
विषया न सुखात्मानः किन्त्वीषत्सुखहेतवः ॥

हे चित्तवृत्ते ! तेरा आत्मा ही सुखरूप है, आनन्दरूप आत्मा में अध्यस्त ये विषय सुखरूप नहीं हैं, किन्तु अल्प-मात्र सुख के हेतु हैं ।

अर्थात् वाञ्छित विषयों की प्राप्ति से शान्त हुए मन में आत्मा के सुखांश का जो आभास पड़ता है वह यद्यपि आत्म-सुख ही है तथापि अज्ञान से लोग उसे विषयजन्य सुख मानते हैं, वस्तुतः वह सुख विषयजन्य नहीं है ।

चित्तवृत्ते ! परित्यज्य सुखं किञ्चित्सुखान्तरे ।
यदीच्छा ते तं श्रयात्म सुखं विषयजं त्यज ॥

हे चित्तवृत्ते ! यदि अल्प सुख को छोड़ कर किसी अन्य महासुख को प्राप्त करने की तेरी इच्छा है तो आत्मसुख को ग्रहण कर और विषयों से उत्पन्न हुए सुखों को त्याग दे ।

चित्तवृत्तेऽविनाश्येव सुखं त्वं यदि वाञ्छसि ।
तर्हि देहोपाधिनाशा दनाश्यात्मसुखं श्रय ॥

हे चित्तवृत्ते ! यदि तू विनाशरहित सुख की इच्छा रखती है तो देहत्रयरूप उपाधिको नाश करके अक्षय्य आत्मसुख को स्वीकार कर ।

आन्तरं सुखमात्मान मवाप्यान्तःस्थया त्वया ।
चित्तवृत्ते बहिर्निष्ठा श्चिन्त्यन्ते विषयाः कुतः ॥

हे चित्तवृत्ते ! अन्तर्विद्यमाना तू अन्तःस्थ आत्मसुख को पाकर बाहर के विषयों की चिन्ता क्यों करती है ?

सुखात्मा तत्प्रकाशात्मा चिदात्मा ते करे स्थितः ।
का चित्तवृत्ते वाञ्छा ते जड़े विषयजे सुखे ॥

हे चित्तवृत्ते ! वह सुखरूप, आनन्द का प्रकाशक तथा चेतन आत्मा तेरे हाथ में ही उपस्थित है (अर्थात् हथेली पर रखी हुई वस्तु के समान साक्षात् अपरोक्ष है), अतः हे मूर्खे ! विषय-जन्य सुखों में फिर भी तेरी इच्छा क्यों होती है ?

यत्प्रसादाद्विषयजं सुखं ते प्रतिभासते ।
तदात्मसुखमुत्सृज्य चित्तवृत्ते ! किमीहसे ॥

हे चित्तवृत्ते ! जिस आत्मा की कृपा से तुझे विषयजन्यसुख प्रतीत होता है, उस आत्मा के सुख को छोड़ कर तू और क्या ढूंढती है ?

पशुर्गुडं विहायोच्चै र्यथा यवसमिच्छति ।
तथात्मसुखमुत्सृज्य विषयान् किं नु वाञ्छसि ॥

जैसे पशु गुड़ को छोड़कर भूसे को ही उत्कण्ठापूर्वक चाहता है इसी प्रकार तू आत्मसुख को छोड़कर विषयों को क्यों चाहती है ?

दृष्ट्वाप्यत्यन्तवैरस्यं यः पदार्थेषु दुर्मतिः ।
बध्नाति भावनां भूयो नरो नासौ स गर्दभः ॥

अन्त में विषयसुख की नीरसता को देखकर भी जो दुर्मति पुरुष फिर विषयों की इच्छा करता है, वह मनुष्य नहीं है किन्तु गदहा है !

उष्ट्रः कण्टकवृक्षार्थी त्यजत्याम्रसुपल्लवान् ।
चित्तवृत्ते ! जहासीत्थ मात्मानं विषयार्थिनी ॥

जैसे कांटेदार पेड़ों की कामना वाला ऊँट आम के सुन्दर कोमल मधुर नूतन पत्तों को छोड़ (कर पीलु, नीम, करीर, शमी, कीकर आदि के कड़वे पत्तों को ही चरता है) देता है, वैसे ही हे चित्तवृत्ते ! तू विषयों की इच्छा से आत्मा को क्यों त्याग रही है ?

हन्त ! भ्रमसि किं नाम शुनीव विषयार्थिनी ।
आत्मानन्दं समासाद्य चित्तवृत्ते! स्थिरा भव ॥

हा कष्ट ! विषय की कामना से कुतिया के समान तू इधर उधर क्यों भटक रही है ? हे चित्तवृत्ते ! तू आत्मानन्द को पाकर शान्त हो जा ।

गुणान् हित्वा परस्योच्चैः खलो दोषान् यथेक्षते ।
हित्वात्मानं चित्तवृत्ते ! विषयानेवमीक्षसे ॥

जैसे दुष्ट पुरुष दूसरे के गुणों को छोड़ कर केवल दोषों पर ही ध्यान देते हैं, ऐसे ही हे चित्तवृत्ते ! तू भी आत्मा को छोड़ कर विषयों पर ही ध्यान रखती है ।

बहुना किमिहोक्तेन चित्तवृत्ते ! वदामि ते ।
आत्मानन्देन सम्पूर्णा स्थिराभव कृपां कुरु ॥

हे चित्तवृत्ते ! बहुत कहने से क्या लाभ ? तुझसे यही कहता हूँ कि आत्मानन्द से परिपूर्ण हो कर तू शान्ति को प्राप्त हो और मुझ पर कृपा कर।

न चैकान्तेन विषया श्चित्तवृत्ते सुखप्रदाः।
उपात्ता अनुपात्ता वा प्रायशो दुःखदा इमे ॥

हे चित्तवृत्ते ! ये विषय नियमपूर्वक सुख के देने वाले नहीं हैं, क्योंकि प्राप्ति या अप्राप्ति में प्रायः ये दुःख ही देते हैं।

भृङ्गसारङ्गमातङ्ग पतङ्गशफरीगणान्।
नेक्षसे चित्तवृत्ते किं विनष्टान् विषयाशया ॥

हे चित्तवृत्ते ! विषयों की आशा में मरते हुए भ्रमर, हरिण, हस्ती, पतङ्ग और मछली को क्या तू नहीं देखती ?

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गा मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्येद्र यः सेवते पञ्चभिरिन्द्रियैश्च ॥

जब हरिण, हस्ती, पतङ्ग, भँवरा और मछली–ये पांचों अपने अपने एक एक विषय के वशीभूत हो कर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तब वह एक प्रमादी पुरुष क्यों न मृत्यु को प्राप्त होगा जो पाँचों इन्द्रियों से पाँचों विषयों को भोग रहा है।

शब्दः सुखैकहेतुश्चेत् कोकिलालापवत्ततः।
प्रार्थ्यते विषयासक्तैः किन्न रासभभाषितम् ॥

कोयल के शब्द के समान यदि शब्द ही सुख का कारण है तो विषयासक्त लोग गधे के रेंकने को सुन कर प्रसन्न क्यों नहीं होते ?

स्पर्शः सुखं प्रसूते चे दङ्गनालिङ्गनादिवत् ।
अङ्गारालिङ्गनादीनि विषयी किं न वाञ्छति ॥

स्त्रियों के आलिङ्गन के समान यदि स्पर्श ही सुख का हेतु है तो विषयी पुरुष जलते हुए अङ्गार के स्पर्श को क्यों नहीं पसन्द करते ?

रूपश्चेत्सुखमाधत्ते ततो विषयलम्पटैः ।
कनकस्येव काकस्य किं न रूपमपेक्ष्यते ॥

यदि सुवर्ण के रूप के समान रूप ही सुख के देने वाला है तो विषयलम्पट पुरुष काक के रूप से भी क्यों नहीं प्रसन्न होते ?

आनन्दप्रद एव स्या द्रसो यदि च सेवितः ।
रसालफलवत्तर्हि सेव्यं किं नेन्द्रवारुणम् ॥

यदि आम्रफल के रस के समान सेवन किया गया रस ही आनन्द का देने वाला है तो इन्द्रायण के रस का सेवन भी क्यों न किया जाय ?

गन्धः सन्दत्त आनन्दं यदि मन्दानिलाहृतः ।
धूपधूमवदेवं स्या त्प्रेतधूमोऽपि तोषितः ॥

सुगन्धित धूप के धुएँ के समान मन्द मन्द वायु से लाया गया पुष्प आदि का गन्ध ही यदि आनन्द को देता है तो चिता का धुआँ भी प्रीतिकारक होना चाहिये !

य एव सुखमाधत्ते विषयो दुःखदोऽपि सः ।
अजीर्णे मरणायैव कल्पते खण्डपायसम् ॥

जिस विषय से सुख होता है उसीसे दुःख भी होता है, जैसे कि न पची हुई मीठी खीर मृत्यु का कारण हो जाती है ।

चित्तवृत्ते ततोऽनन्तं तथानतिशयं सुखम् ।
आत्मरूपमुपादाय स्वस्था भव भवौषधम् ॥

हे चित्तवृत्ते ! इस लिये संसारदुःख की औषध जो अनन्त तथा सर्वोत्तम आत्मसुख है उसको पान कर के तू स्वस्थ हो जा।

॥ इति प्रथमः कवलः ॥



ॐ

अथ द्वितीयः कवलः ।

प्रथम कवल में यह उपदेश किया गया है कि पुरुष को विषयों में वैराग्य करना चाहिये क्योंकि विषयानुराग ही प्रधानतः मोक्ष का विरोधी है, इस लोक तथा परलोक के विषयों से विमुखता हो जाने पर अन्य शम दम आदि साधन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं और मनुष्य ज्ञान का अधिकारी हो जाता है। अतः अब ज्ञान का उपदेश करने के लिये इस द्वितीय कवल का आरम्भ किया जाता है।

विवेकाश्रमवाक्यानि समाकर्ण्याथ सादरात् ।
चित्तवृत्तिः क आत्मेति जिज्ञासां समुपाददे ॥

विवेकाश्रम के वाक्यों को आदरपूर्वक सुन कर चित्तवृत्ति को जिज्ञासा हुई कि आत्मा क्या वस्तु है ?

सप्रश्रयमुपासीना विवेकाश्रममाह सा ।
कोऽयमात्मा य आनन्द रूप उद्घोष्यते त्वया ॥

वह चित्तवृत्ति नम्रतापूर्वक शिष्यभाव से विवेकाश्रम से बोली कि "यह आत्मा कौन है ?" जिसे आप आनन्दरूप कहते हैं।

आत्मापहतपाप्मा यः सोऽन्वेष्टव्यो विपश्चिता ।
स विजिज्ञासितव्यश्चे त्यश्रौषं श्रुतिशासनम् ॥

मैंने श्रुति की आज्ञा को सुना है कि बुद्धिमान् पुरुष को

पाप पुण्य से रहित आत्मा की ढूंढ करनी चाहिए तथा उसे विशेषरूप से जानना चाहिए।

याज्ञवल्क्योऽपि मैत्रेयी मुवाचात्मप्रियां प्रति ।
द्रष्टव्य आत्मा श्रोतव्यो मन्तव्यश्च विचक्षणैः ॥
स निदिध्यासितव्यश्चे त्यात्मनो दर्शनाच्छ्रुतेः ।
मननादथ विज्ञाना त्सर्वं विज्ञातमित्यपि ॥

श्री याज्ञवल्क्य मुनि अपनी प्रिया मैत्रेयी के प्रति बोले कि हे मैत्रेयि ! बुद्धिमान् पुरुषों को आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। " आत्मा का दर्शन, मनन और निदिध्यासन करने से सब का दर्शन, मनन और निदिध्यासन हो जाता है।"

ततो ब्रूहि तमात्मानं चिदानन्दात्मकं मुने !
विवेकाश्रम येनाहं त्यजेयं विषयानिमान् ॥

हे विवेकाश्रम मुने ! इस लिये उस चिदानन्दात्मक आत्मा को स्पष्ट करके कहो, जिसका श्रवण करके मैं इन विषयों को त्याग दूं।

आत्मैव तावदतिरिक्ततया न भाति
देहेन्द्रियासुनिचयात्कुत एव तस्य ।
आनन्दता न हि परं प्रतिभाति पुंसां
शब्दादिजन्यसुखतः सुखमन्यदीषद्ध ॥

देह, इन्द्रिय और प्राणों के समूह से भिन्न जब किसी आत्मा की प्रतीति ही नहीं होती, तब उसकी आनन्दरूपता

कैसी ? क्योंकि मनुष्यों को शब्दादिजन्य आनन्द से भिन्न थोड़ा सा भी अन्य आनन्द प्रतीत नहीं होता ।

तस्मादस्मत्प्रबोधाय कार्य्यकारणसङ्कुतः ।
मुञ्जैषिकावन्निष्कृष्य स्वेष्टमात्मानमीरय ॥

अतः मेरे आत्मसाक्षात्कार के लिये मूंज में से जैसे तीली पृथक करके दिखाई जाती है वैसे ही अपने अभीष्ट आत्मा को अन्नमय आदि पाञ्च कोशों से पृथक् करके निरूपण करो ।

इत्युक्तिं चित्तवृत्त्युक्ता माकर्ण्य स यतीश्वरः ।
इत्थं विचारयामास क्षणमात्रं निमीलितः ॥

वह यतीश्वर, चित्तवृत्ति के पूर्वोक्त वचनों को सुन कर क्षण भर के लिये नेत्र मूंद कर इस प्रकार विचार करने लगा।

अव्युत्पन्ना विपर्य्यस्ता श्रुतिश्रद्धाविवर्जिता ।
बोधनीया कथञ्चैषा रण्डा पण्डितमानिनी ॥

यह राण्ड शास्त्र के अर्थ को समझने में असमर्थ है, देहादि में इसे आत्मबुद्धि हो रही है और श्रुति में भी इसकी श्रद्धा नहीं है, इतने पर भी अपने आप को पण्डित मान रही है, ऐसी दशा में इसे आत्मतत्त्व क्यों कर समझाया जाय ।

यो हि कुर्य्याद्वज्रभेदं यः पिबेद्वाशुशुक्षणिम् ।
यस्तरेद्वाम्बुधिं दोर्भ्यां स नेशो मूर्खबोधने ॥

जो पुरुष वज्र (हीरे आदि) में छिद्र कर देवे, या आग को खा जाय और समुद्र को तैर कर पार हो जाय, वह भी मूर्खों को बोध कराने में समर्थ नहीं हो सकता ।

विपर्य्यस्तमतिं मूर्खं बोधयामीति यो वदेत् ।
मूर्खमूर्द्धाभिषिक्तं तं दूरतः परिवर्जयेत् ॥

जो पुरुष ऐसा कहे कि मैं विपरीत बुद्धि वाले मूर्खों को बोध करवा सकता हूँ—ऐसे मूर्खराज को दूर ही से त्याग दे।

सुविस्पष्टेऽपि विषये विपर्य्यस्तो न तुष्यति ।
पित्तोपहतजिह्वस्य गुडदः किं करिष्यति ॥

विपरीत बुद्धि वाले पुरुष का अत्यन्त स्पष्ट विषय में भी सन्तोष नहीं होता, पित्त से जिस रोगी की जिह्वा रसविज्ञान में असमर्थ हो गई है, गुड़ देने वाला उसे मिठास का अनुभव कैसे करा सकता है ?

तत्तर्कपरिहारेण किञ्चिद्दृष्टान्तसंश्रयात् ।
बोध उत्पादनीयः स्यान्नोचेदत्र स्थितिः कुतः ॥

अतः तर्कखण्डनपूर्वक किसी दृष्टान्त द्वारा इसे बोध करावा चाहिए, नहीं तो इस पाञ्चजन्य मठ में मेरी स्थिति कैसे होगी ?

विवेकाश्रम एवं स्व मनसा परिचिन्तयन् ।
उवाच चित्तवृत्तिं तां बद्धमूलतमस्तराम् ॥

विवेकाश्रम इस प्रकार अपने मन में विचार करता हुआ अत्यन्त घोर-अज्ञानयुक्त चित्तवृत्ति से बोला ।

त्यक्त्वा कान्तारसञ्चारं राजमार्गमुपागता ।
बोधनीयासि केनापि प्रकारेणात्मसंशये ॥

तू घोर जङ्गल में भटकना छोड़ कर राजमार्ग में आ गई

है, किसी प्रकार से भी आत्मसंशय के विषय में तुझे बोध करवाना युक्त है।

जैसे कोई पुरुष अनेक भयानक जन्तुओं से परिपूर्ण दुर्गम महावन में बहुत काल तक भटक कर भाग्यवश राजमार्ग पर आ जाय तो उसे लोग उसके नगर का मार्ग बता देते हैं। इसी प्रकार काम क्रोध आदि रूप हिंस्रस्वभाव जन्तुओं से पूर्ण संसारवन से निकलने का तात्पर्य विषय-वैराग्य से है। अर्थात् जिस पुरुष को संसार के विषयों में वैराग्य हो गया है, समझना चाहिए कि वह संसाररूप घोर जङ्गल से निकल कर आत्मजिज्ञासारूप राजमार्ग पर आ गया है और आत्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी हो गया है।

तद्गच्छ चित्तवृत्ते ! त्वं मृद्भाण्डं स्थूलमानय ।
समन्तरालपरिधि कल्पितच्छिद्रपञ्चकम् ॥

हे चित्तवृत्ते ! इसलिये तू जा और एक बड़ा सा मट्टी का घड़ा ला, जिसकी गोलाई के समभाग में पांच छिद्र हों।

शरावमानय तथा दीपं स्थूलदशाश्रयम् ।
आनीयात्रापवरके गाढध्वान्तसमाश्रये ॥
निधाय दीपं भूभागे तस्योपरि वरानने !
निधाय भाण्डं तत्पुञ्जं बहिस्तच्छिद्रसन्निधौ ॥
वीणां शिरीषपुष्पञ्च सुवर्णं पानकं तथा ।
कस्तूरीञ्च क्रमेणैव निवेशय सुमध्यमे !

हे सुमुखि ! हे सुन्दर कमर वाली ! एक दीवली तथा

मोटी बत्ती सहित जलता हुआ दीपक ला, और इस अत्यन्त अँधेरी कोठड़ी में भूमि पर दीपक को रख कर इस पर घड़े को उलटा रख दे, तथा उस घड़े के हर पार्श्वों छिद्रों के सामने क्रमशः वीणा, सिरस का फूल, सुवर्ण, पीने योग्य कोई वस्तु और कस्तूरी को रख दें।

तथा कृते तया प्राह विवेकाश्रमयोगिराट्।
अस्मिन् ध्वान्तापवरके तन्वि! किञ्चित्प्रपश्यसि॥

चित्तवृत्ति के वैसे ही कर देने पर विवेकाश्रम योगिराज बोले, हे सुन्दरि! क्या तू इस अन्धेरी कोठड़ी में कुछ देखती है?

सा प्रत्याह प्रपश्यामि स्थितं वीणादिपञ्चकम्।
एवमुक्ते चित्तवृत्त्या विवेकाश्रम आह ताम्॥

वह बोली, रखे गये वीणा आदि पाञ्चों पदार्थों को देखती हूं, चित्त-वृत्ति के ऐसा कहने पर विवेकाश्रम बोले।

वीणादयः प्रकाशन्ते स्वतो वा छिद्रतोऽपि वा।
भाण्डतो वाऽन्यतो वेति संशयं मे निराकुरु॥

क्या वीणा आदि पाञ्चों पदार्थ अपने आप प्रकाशमान हैं? या छिद्रों से प्रकाशित हैं? अथवा घड़ा इन का प्रकाशक है? या और किसी वस्तु से प्रकाशित हैं? मेरे इस संशय को तू दूर कर।

सा प्रत्याह पुनर्बाला शाला सौभाग्यसम्पदः।
वीणादयो न भासन्ते स्वतो न सुषिरैरपि॥

न भाण्डेनापि किन्त्वन्तः स्फुरता दीपतेजसा ।
प्रकाश्यन्ते यतीन्द्रेमे वीणाद्या विनिवेशिताः ॥

सौभाग्य—सम्पदा से युक्त वह बाला बोली, वीणा आदि अपने आप प्रकाशित नहीं हैं, न छिद्रों से ही प्रकाशमान हैं तथा घड़ा भी इन का भासक नहीं है, किन्तु हे यतीन्द्र ! ये वीणा आदि पदार्थ घड़े के अन्दर प्रकाशमान दीपक के तेज से ही प्रकाशित हो रहे हैं ।

पुनराह हसन् भिक्षु दींपतेजोगिरा त्वया ।
विवक्षितं किमत्रास्ति शरावं वा दशापि वा ॥
अन्यद्वेति वद व्यक्तं यत्रासक्तं मनस्तव ।

भिक्षु हँसता हुआ बोला, "दीपक का तेज"—इस शब्द से तेरा क्या अभिप्राय है ? क्या दीवला या बत्ती या कुछ और ? उसे स्पष्ट कहो ।

चित्तवृत्तिः पुनः प्राह शरावं न विवक्षितम् ॥
न दशा स्नेहसम्पन्ना किन्तु यच्चम्पकाकृतिः ।
शरावसस्नेहदशा वशात्स्फुरति किञ्चन ॥
तेजोगिरा मया योगिं स्तदेवात्र विवक्षितम् ।

चित्तवृत्ति बोली, दीवले तथा तैलयुक्त बत्ती से मेरा अभिप्राय नहीं है, किन्तु दीवले तथा तैलयुक्त बत्ती के कारण जो चम्पे की कली के समान कुछ ज्वालारूप सा स्फुरण हो रहा है, हे योगिन् ! उसी में 'तेजः' शब्द का मेरा तात्पर्य है ।

विवेकाश्रम ईदृश्या तद्गिरा तोषमाप सः ॥
निमीलिताक्षो रोमाञ्च कञ्चुकोदञ्चिताङ्गकः ।
मुञ्चन्नयनतो वारि निश्चलोऽचलराडिव ॥

विवेकाश्रम उस के इस वाक्य से सन्तुष्ट हो गये, नेत्र बन्द कर लिये ! शरीर पर रोंगटे खड़े हो गये ! नेत्रों से जल बहने लगा ! और हिमालय के समान निश्चल हो गये !

आत्मा को शरीर से भिन्न, शरीर का प्रकाशक तथा स्वप्रकाश सिद्ध करने के लिये दृष्टान्तरूप से कुम्भ आदि सब सामग्री एकत्र की गई थी। जब चित्तवृत्ति ने दीपशिखा को ही सबका प्रकाशक बताया तब विवेकाश्रम को दीपशिखा से संलक्षित आत्मज्योतिः का स्मरण होते ही समाधि हो गई, उसी समाध्यवस्था का निरूपण इस तथा आगे के पद्य में किया गया है।

आत्मन्येवात्मना पश्य न्नात्मानमखिलात्मकम् ।
बभूवान्धो गलद्बन्धो बाह्येषु विषयेष्वयम् ॥

अखिलात्मक (सर्वाधिष्ठान) आत्मा को बुद्धि में स्वयं अनुभव करते हुए वह योगिराज संसाररूप बन्ध से विमुक्त होकर बाह्य विषयों से अन्धे (उपरत) हो गये।

चित्तवृत्तिः पुनस्तस्मिन् विषये तावद्विस्मिता ।
बभूव तादृशं वीक्ष्य विवेकाश्रममन्तिके ॥

उस स्थान में ऐसी दशा को प्राप्त हुए विवेकाश्रम को देख कर चित्तवृत्ति बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुई।

पूर्वापरपरामर्शं चकारैव च सा हृदि ।
ममात्मतत्त्वबोधाय प्रवृत्तोऽयं यतिः किल ॥

उसने हृदय में पूर्वापर विचार किया कि यह यति निश्चयपूर्वक मुझे आत्मतत्त्व का बोध कराने के लिये प्रवृत्त हुआ है ।

तत्रोपमोपमेयत्वं कृतं भाण्डशरीरयोः ।
इन्द्रियच्छिद्रयोरेवं संमतं हृच्छरावयोः ॥
अन्तःकरणसस्नेह दशयोर्दीपजीवयोः ।
पश्चामी विषया वीणा द्याश्रया उपदर्शिताः॥

उसी आत्मतत्त्व को समझाने के लिये शरीर को घट की उपमा दी है, इसी प्रकार इन्द्रियों को छिद्रों की, हृदय को दीवले की, अन्तःकरण को तैलयुक्त बत्ती की और दीप को जीवात्मा की उपमा दी है । तथा इन वीणा आदि पार्श्वों से पार्श्वों इन्द्रियों के शब्द आदि विषय दिखाये गये हैं ।

तदनेन प्रकारेण चिदात्मा मे निरूपितः ।
भिन्नो देहेन्द्रियादिभ्यः स्वप्रकाशोऽन्यभासकः ॥

इस प्रकार देह इन्द्रिय आदि से भिन्न, स्वयंप्रकाश, तथा देह इन्द्रिय आदि का प्रकाशक चिदात्मा मेरे प्रति निरूपण किया गया है ।

प्रसङ्गादनुसन्धानं मुकुरप्रतिबिम्बितम् ।
प्राप्य प्रत्यश्चमात्मानं जातो बाह्यदशोज्झितः ॥

प्रसङ्गवशात् दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु के समान

अन्तःकरण में प्रत्यगात्मा को स्मरण करके बाह्य विषयों से विमुख होकर समाधि को यह प्राप्त हो गये हैं।

परन्त्वस्यात्मनो ज्योती रूपता मानतः कुतः।
इति प्रष्टव्य एवासा विति तं पाणिनाऽस्पृशत्॥

अब इनसे यह बात पूछनी चाहिए कि इस आत्मा की ज्योतीरूपता (प्रकाशमानता) में क्या प्रमाण है ? ऐसा विचार कर समाधिस्थ विवेकाश्रम को समाधि से जगाने के लिये हाथ से छुआ।

स्पृष्टस्तया पराग्वृत्ति- चेताः कर्मन्दिपुंगवः।
उन्मीलिताक्षोऽनौचित्यं तस्या वीक्ष्य जगाद ताम्॥

उससे छुए जाने पर उस श्रेष्ठ संन्यासी ने बहिर्मुख होकर आँखें खोलीं और उसके ऐसे अनुचित व्यवहार को देख कर बोले।

देहः परमहंसानां न स्पर्शार्होऽपि कस्यचित्।
विशेषतश्च नारीणां कामादिमलिनात्मनाम्॥

परमहंसों का शरीर किसी से भी छूने योग्य नहीं है और काम आदि से मलिन अन्तःकरण वाली नारियों से तो विशेष कर नहीं।

गूढ़ाभिप्राय यह है कि देहाभिमान से विमुक्त परमहंसों के वास्तविक "सच्चिदानन्दात्मक" शरीर को दूषितनारी के समान यह सकामा अन्तःकरणवृत्ति नहीं जान सकती। केवल निःस्पृह विरक्त तथा शुद्धान्तःकरण पुरुष ही अपने "सत् चित् आनन्द" रूप शरीर का स्पर्श कर सकते हैं।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
इति प्राह प्रपन्नाय गुडाकेशाय केशवः ॥

क्योंकि इस संसार में "ज्ञान" के समान पवित्र वस्तु अन्य कोई नहीं है, ऐसा उपदेश श्रीकृष्ण भगवान् ने शिष्यरूप से आये हुए अर्जुन के प्रति किया है ।

तस्मात्प्रत्यक्परिज्ञान गोदया विमलीकृतः ।
देहो यतीनां न पर- स्पर्शपङ्कमिहार्हति ॥

इस लिये आत्मज्ञानरूप गोदावरी से निर्मल किया गया यतियों का देह औरों के स्पर्श करने योग्य नहीं है ॥

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम् ॥

शौच दो प्रकार का है, "बाह्य" तथा "आभ्यन्तर"। बाह्य शौच मिट्टी तथा जल से और भीतर का मन की शुद्धि से होता है ।

वस्तुतः मन तथा मन से कल्पित सकल प्रपञ्च की निवृत्ति ही बाह्य शुद्धि है, राग द्वेष आदि की निवृत्तिपूर्वक अपने स्वरूप में निर्विकल्प स्थिति आभ्यन्तर शुद्धि है ।

इति स्मृत्या समादिष्टं यस्य शौचद्वयं भवेत् ।
स यात्यधिकृतिं भिक्षु पादसंवाहनादिषु ॥

जिस पुरुष में इस स्मृति से कथन किया गया दोनों प्रकार का शौच हो उसे ही संन्यासी की शारीरिक सेवा करने का अधिकार है ।

निषेधोप्यत्र जागर्त्ति नाङ्गमङ्गेन संस्पृशेत् ।
सुदुर्लङ्घ्योऽपि भिक्षूणां मुमुक्षारक्षितात्मनाम् ॥

मुक्ति की कामना से देह इन्द्रियादि की विषयों से रक्षा करनेवाले भिक्षुओं के लिये भी उल्लङ्घन न करने योग्य यह "निषेध" प्रसिद्ध है कि "यति स्वशरीर से किसी के शरीर का स्पर्श न करे ।

इस प्रकरणका अभिप्राय यही है कि यति को अपनी निःसङ्गता को नष्ट नहीं करना चाहिए । क्योंकि:—

"निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः ।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः ॥

यतियों के लिये निःसङ्गता मुक्ति के देनेवाली है तथा सङ्ग से ही सब दोष उत्पन्न होते हैं, योगारूढ पुरुष भी सङ्ग से पतित हो जाता है साधारण योगी का तो कहना ही क्या है !"

श्राद्धोऽधिकारी विधिषु न्यायविद्भिरुदाहृतः ।
निषेधेषु पुनर्मूढे ! श्राद्धश्चाश्राद्ध एव च ॥

पूर्वोत्तर-मीमांसा के जानने वालों ने विधिशास्त्र का अधिकारी केवल श्रद्धावान् को माना है, परन्तु हे मूर्खे ! निषेधशास्त्र में तो श्रद्धालु तथा अश्रद्धालु दोनों का ही अधिकार है ।

इस लिये यद्यपि तत्त्ववेत्ता होने के कारण मैं विधिशास्त्र का अधिकारी नहीं भी हूँ तथापि "नाङ्गमङ्गेन संस्पृशेत्" इत्यादि निशेधशास्त्र का अङ्कुश मुझ पर भी है । तात्पर्य यह है कि—

विधिवाक्यों में श्रद्धावान् अज्ञानी पुरुष का ही अधिकार है और जिसे आत्मसाक्षात्कार हो गया है उसे मनुष्यत्व ब्राह्मणत्वादि का अभिमान न होने के कारण वर्णाश्रम सम्बन्धी कर्म धर्म में श्रद्धा नहीं रहती, इस लिये उसे उन कर्मों के करने का अधिकार नहीं है। किन्तु "चोरी मत करो, झूठ मत बोलो" इत्यादि निषेधशास्त्र के अनुसार श्रद्धा-रहित तत्त्ववित् को भी चलना पड़ता है, क्योंकि निषेधशास्त्र में श्रद्धा की अपेक्षा नहीं है। ज्ञानी, अज्ञानी, श्रद्धालु या अश्रद्धालु निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त होते ही निषेधशास्त्र का विषय हो जाता है। किञ्चित् अविद्या के संस्कार के होने के कारण ज्ञानवान् पुरुष की भी निषिद्ध कर्म में प्रवृत्ति सम्भावित है।

श्वचाण्डालादिभिः स्पृष्टा विषयासङ्गदूषिता ।
योषित् परमहंसस्य स्पृशत्यङ्गं कथं मम ॥

तू कुत्ते चण्डाल आदि से छुई हुई और विषयों के सम्बन्ध से दूषित मुझ परमहंस के शरीर को क्यों छूती है ?

चित्तवृत्ति का कुत्ते चाण्डाल आदिकों की योनि में भी होना या चाण्डाल आदि देह को विषय करना ही उन से स्पर्श है, ऐसे विषय-स्पर्श से दूषिता चित्तवृत्ति विवेकरूप परमहंस का स्पर्श नहीं कर सकती।

खलोऽङ्गुल्यापि संस्पृष्टः स्कन्धमारोहतीति यत् ।
वदन्ति वृद्धा दुःशीले ! तत्तथ्यं रचितं त्वया ॥

अङ्गुली से भी छुआ गया नीच पुरुष कन्धे पर आ चढ़ता है—ऐसा वृद्ध लोग कहते हैं, हे दुःशीले ! आज तू ने

उसे सच कर दिखाया । जैसे नीच पुरुष को थोड़ा सा भी मुँह लगाया जाय, तो वह सिर पर आ चढ़ता है, इसी प्रकार चित्तवृत्ति को विषयों की ओर जाने का थोड़ा सा भी अवसर दिया जाय, तो वह इतना स्वतन्त्र हो जाती है कि पुरुष को सर्वथा अपने अधीन कर लेती है, अतः मुमुक्षु पुरुषों को चाहिये कि अपनी चित्तवृत्ति को विषयों की ओर न जाने दें नहीं तो वह स्वतन्त्र होकर उन्हें मुक्तिमार्ग से भ्रष्ट कर देगी ।

स्पृशेन्न कश्चित्सन्न्यासी तञ्च नान्यो नरः स्पृशेत् ।
बाह्याभ्यन्तरशुद्ध्याढ्यो निवसेत्स्फटिकोपमः ॥

सन्न्यासी किसी पुरुष को न छुए और उसको अन्य मनुष्य न छुएँ । तथा स्फटिक के समान बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि से युक्त हो कर सन्न्यासी निवास करे ।

अप्रक्षालितकन्था ये ये चाप्रक्षालिताम्बराः ।
अप्रक्षालितशय्याश्च ये चाक्षालितदण्डकाः ॥

हे चित्तवृत्ति ! जो अपनी गुदड़ी नहीं धोते, कपड़ों को स्वच्छ नहीं रखते, शयनस्थान को निर्मल नहीं रखते तथा दण्ड को नहीं धोते, तुम्हें उनका ही स्पर्श करना चाहिये ।

ये धातुसङ्ग्रहोद्युक्ता ये मठेष्वधिकारिणः ।
ये यानारूढकुणपाः स्त्रीसम्भाषणलोलुपाः ॥

जो धातुसङ्ग्रह का उद्योग करते हैं, मठों के अधिकारी हैं, हाथी घोड़ा रथ आदि पर मृतशरीर के समान बैठ कर निकलते हैं, तथा स्त्रियों के साथ बात चीत करने के लिये लोलुप (अतिलोभयुक्त) रहते हैं ।

वृथाकथानुरक्ता ये परिहासप्रियाश्च ये ।
ये चाथर्वणकार्यज्ञा ये विज्ञा लोकसङ्ग्रहे ॥

जो वृथा कथाओं में अनुरक्त हैं, हँसी ठठोली के चाहने वाले हैं, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के जाननेवाले हैं और लोकसङ्ग्रह में चतुर हैं ।

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।
यतिपाशाश्चित्तवृत्ते ! स्प्रष्टव्यास्ते त्वया खलु ॥

जो प्रमादी, बहिर्मुख, चुगली खाने वाले, झगड़ालु और अधम यति हैं, हे चित्तवृत्ते ! तू उन्हीं का स्पर्श कर ।

शयानमपि यं कञ्चि न्नरं विज्ञो न बोधयेत् ।
किं पुनर्योगिनं प्रत्यक् चिन्ताकञ्चुकिताम्बरम् ॥

"बुद्धिमान् पुरुष किसी सोये हुए मनुष्य को न जगावे"-यह शास्त्राज्ञा है, फिर उस योगी को जगाना तो कहाँ ! जो प्रत्यगात्मविचार-रूप वस्त्र को ओढ़ कर योगनिद्रा में सो रहा है ।

आस्तामेतच्चित्तवृत्ते नापराधोऽयमत्र ते ।
त्वत्संवादापराधोत्थो दण्डोऽयं पारमेश्वरः ॥

हे चित्तवृत्ते ! इस विचार को जाने दे, इस में तेरा कोई अपराध नहीं है । किन्तु तेरे साथ सम्भाषणरूप अपराध का ही परमेश्वर से दिया गया मेरे को यह दण्ड है ।

अथ ब्रूहि मयोदीर्णं त्वया भद्रेऽवधारितम् ।
न वेति नहि जानेऽह मन्यत्रासक्तमानसः ॥

हे भद्रे ! अब यह बतला कि तू नें मेरे उपदेश को ठीक ठीक समझा या नहीं ? क्योंकि मेरा मन अन्यत्र (परमात्मा में) आसक्त था, इसलिये (तेरे समझने या न समझने का) मुझे ज्ञान नहीं है ।

विवेकाश्रमसम्भाषा मेषाऽऽकर्ण्यापि न व्यथाम् ।
चित्तवृत्तिः प्राप किन्तु स्वापराधममन्यत ॥

चित्तवृत्ति ने विवेकाश्रम के वचनों को सुन कर दुःख नहीं माना, किन्तु अपना ही अपराध समझा ।

दुष्टस्यापि स्वभावेन दैवात्सत्सन्निधौ सति ।
न प्रसीदति यस्यात्मा प्रस्तरः स कथं नरः ॥

स्वभाव से दुष्ट जो पुरुष दैववशात् सत्सङ्गति पाकर अन्तःकरण को शुद्ध नहीं कर सकता वह पत्थर ही है ! मनुष्य कैसा ?

उवाच च परिम्लान मुखाम्भोजाऽपराधतः ।
नम्रीभूतशिरा इत्थं प्रश्रयन्याययुग्वचः ॥

भिक्षु को योगनिद्रा से उठाने के अपराध से चित्तवृत्ति का मुखकमल मुरझा गया । और सिर झुकाए हुए विनयपूर्वक न्याययुक्त वचनों को इस प्रकार बोली ।

परापराधसंभूतः सतां कोपाशुशुक्षणिः ।
पराज्ञानपरामर्शं विना शाम्यति नार्णवैः ॥

दूसरों से किये गये अपराध से उत्पन्न हुआ साधु पुरुषों का क्रोधाग्नि समुद्र से भी शान्त नहीं हो सकता, जब तक

उन्हें यह विश्वास न हो जाय कि अपराधी ने अज्ञान से हमारा अपराध किया है।

मुने ! जिज्ञासयोपात्तं मच्चित्तं जनगर्हितम्।
प्रश्नौत्कण्ठ्यादविनयं नाज्ञासीत्तत्क्षमां कुरु ॥

हे मुने ! जननिन्दित मेरा यह मन जिज्ञासा के वशीभूत हो कर प्रश्न करने को उत्कण्ठित हो रहा था, इस लिये असभ्यता को न जान सका, अतः मेरा अपराध क्षमा करिये।

किन्त्वेयमफला याच्ञा क्षमायाः पुरतस्तव।
सतां क्षमा हि सहजा न दीनवचनोद्भवा ॥

अथवा आप से क्षमा की प्रार्थना करना व्यर्थ है, क्योंकि साधु पुरुष स्वभाव से ही क्षमावान् होते हैं, दीनों के वचनों से उन्हें क्षमा उत्पन्न नहीं होती है।

देहादिभ्यो विविक्तं य त्कयापि छायया त्वया।
आत्मतत्त्वं प्रकटितं मया तदवधारितम् ॥

आपने देह आदि से भिन्न जिस आत्मतत्त्व को कुम्भ दीपक आदि का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है, उसे मैं समझ गई हूं।

को मां मूर्खां विपर्य्यस्तां तत्रापि स्त्रीत्वदूषिताम्।
आत्मतत्त्वज्ञतां सद्यो नयेत्त्वत्प्रभावादृते ॥

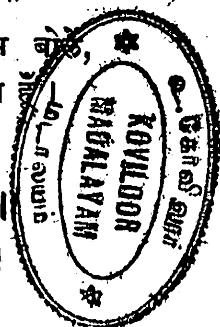
मुझ ऐसी देहात्मबुद्धिवाली मूर्खा को, और उस पर भी स्त्रीधर्म रूप दोष से दूषिता को, आप के प्रभाव के बिना कौन पुरुष आत्मतत्त्व का ज्ञान ऐसी शीघ्रता से करा सकता है?

इदानीं ज्ञातुमिच्छामि तेजोरूपत्वमात्मनः ।
प्रमाणेन च युक्त्या च प्रसादं मयि तत्कुरु ॥

हे विवेकाश्रम ! अब आत्मा की ज्योतीरूपता को प्रमाण और युक्ति से जानना चाहती हूं, अतः मुझ पर कृपा करिये।

इत्युक्तः स तया प्राह विवेकाश्रम-योगिराट् ।
प्रमाणं तेऽभिधास्यामि तेजोरूपत्व आत्मनः ॥

इस प्रकार पूछे जाने पर योगिराज विवेकाश्रम बोले, आत्मा की स्वयंप्रकाशता के विषय में मैं प्रमाण बताता हूँ।



जनको नाम वैदेह आसीद्ब्रह्मविदां वरः ।
स्वमन्दिरमुपायान्तं याज्ञवल्क्याख्ययोगिनम् ।
विधिना पूजितं भक्त्या वरदानसमुत्सुकम् ।
कामप्रश्नं वरं वव्रे स तस्मै तं वरं ददौ ॥

ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ विदेह-देश के स्वामी जनक नामक एक राजा थे, उन्होंने अपने घर पर आये हुए श्री याज्ञवल्क्य मुनि की विधिपूर्वक भक्ति से पूजा की और वरदान देने के लिये उत्कण्ठित श्री याज्ञवल्क्य जी से राजा ने कामप्रश्न वर मांगा, जिसे उन्होंने उसको दिया।

इच्छापूर्वक प्रश्न करने को 'कामप्रश्न" कहते हैं।

तत्र प्रश्नेषु बहुषु सत्स्वप्यन्येषु भूपतिः ।
किं ज्योतिरेष पुरुष इति पप्रच्छ योगिनम् ॥

जनक राजा ने सभा में बहुत से प्रश्न करते करते श्री

याज्ञवल्क्य जी से पूछा कि यह पुरुष किसके प्रकाश से अपना व्यवहार करता है ?

आदित्यज्योतिरेवाय मिति प्रत्याह तं मुनिः ।
तस्योपपादकश्चाह याज्ञवल्क्यो नृपं प्रति ॥

श्री याज्ञवल्क्य मुनि ने राजा को उत्तर दिया, कि यह पुरुष "आदित्य-ज्योतिः" है और "आदित्यज्योतिः" होने के विषय में युक्ति भी बताई ।

आस्ते पल्येति यत्कर्म कुरुते पुरुषोऽत्र यत् ।
विपर्येति तदादित्य ज्योतिषैवेति निश्चिनु ॥

इस संसार में पुरुष का खड़ा होना, बैठना, चलना, अन्यत्र जा कर कर्म करना और लौट कर अपने स्थान पर आना आदि सब कर्म सूर्य्य के प्रकाश से ही होता है, यदि सूर्य्य का प्रकाश न होता तो सब प्राणी अन्धे होते और सूर्य्य-प्रकाश-सम्बन्धी कोई कर्म न कर सकते, अतः पुरुष "आदित्य-ज्योतिः" है ।

पुनः पप्रच्छ तं भूप आदित्येऽस्तमिते सति ।
किं ज्योतिरेष पुरुष इति सोऽप्यब्रवीत्ततः ॥

राजा ने फिर मुनि से पूछा कि सूर्य्य के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योतिः से व्यवहार करता है ? इसे सुन कर श्रीयाज्ञवल्क्य जी बोले ।

चन्द्रमा एव पुरुष ज्योतिरित्यवधारय ।
उपपत्तिन्तु पूर्वोक्ता मेव विद्धि धराधिप ॥

हे राजन् ! उस समय चन्द्रमा ही पुरुष को प्रकाश देने वाला है, और इस विषय में युक्ति पहले के समान जानो ।

पुनः पृच्छति भूपाले वह्निं वाचं च योगिराट् ।
ज्योतिष्टेनाभ्यधात्पूर्वो पपत्तिपरिबृंहितम् ॥

इस प्रकार राजा के फिर फिर पूछने पर, योगिराज ने "अग्नि" तथा "शब्द" रूप ज्योतिः को पूर्वोक्त युक्ति से ही पुरुष की ज्योतिः का बतलाया ।

राजा ने पूछा, हे भगवन् ! अमावस्या की रात में चन्द्रमा की अनुपस्थिति में लोग किस के सहारे कर्म करते हैं ? मुनि ने उत्तर दिया, हे राजन् ! उस समय लोग अग्नि के प्रकाश से व्यवहार करते हैं ।

इसी प्रकार अमावस्या की रात्रि में जब आँधी से दीपक आदि बुझ गये हों, काली घटा छा रही हो तब पुरुष "वाणी" रूप ज्योतिः से कार्य करता है, क्योंकि ऐसा देखते हैं कि अँधेरी रात में जङ्गल में यदि कोई परदेशी ग्रामादि का मार्ग भूल गया हो तो गाँव के कुत्तों के शब्दों को सुन कर ग्राम की दिशा को जान कर वह तदनुसार वहाँ चला जाता है, इस से यही सिद्ध होता है कि वाणीरूप प्रकाश से भी पुरुष के व्यवहार सिद्ध होते हैं ।

वाणी उदाहरणमात्र है—घ्राण, जिह्वा, त्वचा आदि का भी इसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए ।

सर्वेषां ज्योतिषां मत्य स्तमये सति योगिराट् ।
किं ज्योतिरेष पुरुष इति पृष्टे तु भूभुजा ॥

इन सब प्रकाशों के न होने पर यह पुरुष किसके प्रकाश से व्यवहार करता है ? इस प्रश्न के पूछे जाने पर योगिराज ने उत्तर दिया—

प्रश्न का आशय यह है:—कि जागरण काल में पुरुष के व्यवहार के साधक सम्पूर्ण प्रकाशों को जान लेने के पश्चात् राजा ने पुनः प्रश्न किया कि स्वप्न काल में पुरुष अनेक व्यवहार करता है, उस समय सूर्य्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि ये बाह्य प्रकाश स्वाप्न जगत् के देश हृदयगुहा में नहीं होते हैं तथा इन्द्रियाँ भी मन में लीन हो जाती हैं। स्वप्न में इन सब व्यवहारसाधनों के न होते हुए भी जागरण की अपेक्षा अधिक व्यवहार देखने में आता है, सो किसके प्रकाश से पुरुष अपने स्वाप्नव्यवहारों को सम्पादन करता है ?

स्वयंज्योतिरिति प्राह प्रत्युत्तरमयं ततः ।
अतः श्रुतिः प्रमाणं ते ज्योतीरूपत्व आत्मनः ॥

उस समय आत्मा ही "स्वयंज्योतिः" है—इस प्रकार मुनि ने राजा को उत्तर दिया। अतः हे चित्तवृत्ते ! आत्मा की स्वयंज्योतीरूपता के विषय में पूर्वोक्त श्रुति ही तेरे लिये प्रमाण है।

युक्तिं तत्राभिधास्यामि तां सम्यग्व्यवधारय ।
ज्योतिष्ट्वं नाम किं ब्रूहि यदत्राक्षिप्यते त्वया ॥

आत्मा स्वयंज्योतिः है—इस विषय में युक्ति कहता हूँ, उस पर तुम अच्छे प्रकार विचार करो। जिस ज्योतिष्ट्व

(ज्योतिपन) पर तुम आक्षेप करती हो वह क्या वस्तु है ? इसका उत्तर दो ।

जातिरूपं यदीष्टं ते तदात्मनि न विद्यते ।
असामान्यविशेषात्मा यतोयं परमेकलः ॥

ज्योतिष्ट्व यदि जाति रुप तुम्हें इष्ट है तो आत्मा में वह नहीं है, क्योंकि आत्मा केवल एक है और सामान्यविशेष-भाव से रहित है ।

"गौ गौ गौ"—इस प्रकार की अनुगत प्रतीति का विषय अनेकगत एक गोत्व आदि रूप धर्म "जाति" कहाता है ।

शुक्लभास्वररूपत्व मुष्णस्पर्शत्वमेव च ।
यदि ज्योतिष्ट्वमिष्टं ते तत्प्रतीचि दुरासदम् ॥

शुक्लभास्वर-रूपत्व और उष्णस्पर्शत्व स्वरूप ज्योतिष्ट्व यदि तुम्हें इष्ट है तो वह भी प्रत्यगात्मा में असम्भव है ।

शुक्ल (श्वेत रङ्ग) भास्वर और अभास्वर भेद से दो प्रकार का है, सूर्य्य अग्नि आदि में भास्वर (प्रकाशमान) शुक्ल रूप है और जल आदि में अभास्वर शुक्ल रूप है ।

अरूपं तमथास्पर्श माहुर्वेदान्तवादिनः ।
उदयास्तमयत्यक्त मनिन्धनमहैतुकम् ॥

क्योंकि आत्मा को वेदान्तवादी रूप, स्पर्श, उदय और अस्त से रहित तथा अग्नि के समान काष्ठ आदि दूसरे हेतु से न उत्पन्न होने वाला या न जलने वाला बताते हैं ।

स्वयं प्रकाशमानं सद्य यदन्यस्य प्रकाशकम् ।
तज्ज्योतिरिष्टं तव चे त्तदात्मैव न चापरम् ॥

यदि तेरा यह अभिप्राय है कि जो अपने आप प्रकाशमान हो और दूसरे को भी प्रकाशित करता हो वही "ज्योतिः" है तो इस प्रकार का ज्योतिः केवल आत्मा ही है, दूसरा नहीं है।

तदेव ज्योतिषां ज्योति रिति श्रुतिवचः स्फुटम् ।
भान्तं तमनुभातीदं सर्वमित्यपरं वचः ॥
तस्य भासा सर्वमिदं विभातीतिश्रुतिस्तथा ।
सर्वं येन विजानीया द्विजानीयात्तु केन तम् ॥
आत्मानं केन जानीया दित्यर्था चापरा श्रुतिः ।
उक्तप्रकारं ज्योतिष्ट्वं प्रतीचः स्फुटयत्यलम् ॥

१—"वही ज्योतिः का ज्योतिः है।" २—"उसी प्रकाशमान आत्मा के प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित हो रहा है।" ३—"उसी के प्रकाश से यह सब भास रहा है।" ४—"जिस ज्ञानमय आत्मा से यह सब जगत् प्रतीत हो रहा है उस आत्मा को दूसरे किस साधन से जान सकते हैं?" ५—"आत्मा को किससे जाने?" इत्यादि नाना श्रुतियां उक्त प्रकार से आत्मा के ज्योतिष्ट्व को अत्यन्त स्पष्ट करके कह रही हैं।

यदि चात्मा तु नैव स्या ज्जडः स्यात्तज्जडत्वतः ।
जगदान्ध्यप्रसक्तिः स्या देषा युक्तिः परा मता ॥

यदि आत्मा स्वयंप्रकाश न हो तो वह जड़ ही होगा और यदि आत्मा जड़ होता तो यह जगत् अन्धा होता—यह युक्ति (अर्थापत्ति) दूसरा प्रमाण है।

अत्र तूदाहरन्तीम मितिहासं नवोद्भवम् ।
यस्याकर्णनमात्रेण तमः पुंसां विनश्यति ॥

आत्मा की स्वयंज्योतिःस्वरूपता के विषय में एक नया इतिहास कहते हैं, जिसके सुननेमात्र से पुरुषों का अज्ञान नष्ट हो जाता है।

सम्भेदो भुवि भद्रेऽस्ति गोदागरुड़गङ्गयोः ।
हरिद्राख्यनदी मुद्रा विद्रावितजनाशुभा ॥

हे भद्र ! भूलोक में गोदावरी और गरुडगङ्गा का सङ्गम है। और एक हरिद्रा नाम की नदी है जो अपनी धारा से लोगों के पापों को धो डालती है।

भूलोक=पुरुषदेह, गोदावरी=तत्त्वंपदार्थ-शोधन रूप अन्तःकरणवृत्ति, गरुड़गङ्गा=ब्रह्मज्ञान, हरिद्रा=विष्णुभक्ति !

"श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, चरणसेवन, पूजन, अभिवन्दन, दास्य, सख्य और सर्वस्वात्मनिवेदन" ये भक्ति की नौ मुद्रा हैं। इन सब के या एक एक के सेवन से भी कल्याण होता है। जैसे:—

श्रीविष्णोः श्रवणे परिक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्त्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम् ॥

श्री विष्णु के चरित्रश्रवण में राजा परीक्षित्, कीर्तन में श्री शुकदेव, स्मरण में प्रह्लाद, चरणसेवा में लक्ष्मी, पूजन में राजा पृथु, अभिवादन (प्रणाम) में अक्रूर, दासपन में

हनुमान्, मित्रता में अर्जुन और सर्वस्वात्मनिवेदन में राजा बलि तत्परायण थे और इन सब को श्रीकृष्ण-प्राप्ति हुई ।

हारिद्रमम्भः पक्षेण सेवितं पापतापनुत् ।
दिनत्रयेण च तथा सेवितं वाञ्जरं जलम् ॥

हरिद्रा नदी का जल पक्ष भर और वञ्जरा नदी का जल तीन दिन सेवन करने से पाप के तापों को नष्ट कर देता है ।

हरिद्रानदी=भगवत्प्रेमरूपा भक्ति । वञ्जरानदी=निष्काम-कर्मानुष्ठान ।

दर्शनादेव गौतम्या जलं पूर्वोक्तकार्यकृत् ।
सन्दर्शनादेव तथा साङ्गमं जलमीरितम् ॥

गौतमी नदी तथा सङ्गम के जल के दर्शनमात्र से समस्त पापों के ताप नष्ट हो जाते हैं ।

गौतमी नदी=ब्रह्माकार अन्तःकरण-वृत्ति की निरवच्छिन्न धारा । सङ्गमजल=तत् और त्वं पदार्थ का अभेदज्ञान ।

रटन्तीह पुराणानि ब्राह्म्यादीनि पुनः पुनः ।
वञ्जरासङ्गमादन्य त्तीर्थं पुंसां न मुक्तिदम् ॥

ब्रह्म आदि पुराण इस विषय में बार बार कहते हैं कि वञ्जरासङ्गम को छोड़ कर और कोई तीर्थ पुरुषों को मुक्ति देने वाला नहीं है ।

अवसद्ब्रह्मशर्मास्मिन् सङ्गमे कश्चन द्विजः ।
शुभमङ्गलेति तस्यासीत् पत्नी मङ्गलदर्शना ॥

इस वञ्जरासङ्गम पर "ब्रह्मशर्मा" नामक कोई ब्राह्मण वास करता था, "सुमङ्गला" नाम की उसकी एक धर्मपत्नी थी जिसका दर्शन मङ्गलरूप था।

वञ्जरासङ्गम=निष्काम-कर्मानुष्ठान का साधन मानुष-देह, ब्रह्मशर्मा=मुमुक्षु, और सुमङ्गला=कल्याणार्थप्रवृत्ता बुद्धि।

तयोर्गोदावरीमात्र सेवासंसक्तचित्तयोः ।
भूयान् कालो व्यतीयाय पुत्रप्राप्तिमभीप्सतोः ॥

पुत्र की कामना से मन लगा कर गोदावरीमात्र का सेवन करते करते उन दोनों का बहुत समय व्यतीत हो गया।

इस कथा में विवेकरूप पुत्र, कर्माचरण रूप गोदावरी नदी का सेवन, जीव और बुद्धिरूप पति पत्नी की जोड़ी से अभिप्राय है।

पुत्रकामनयैवोच्चैः कुर्वतोः कर्म किञ्चन ।
अन्त्ये वयसि सम्प्राप्ते बभूवान्धः सुतः किल ॥

पुत्र की कामना से कुछ उत्तम कर्म करते करते जब बुढ़ापा आ पहुंचा तब एक अन्धा पुत्र उत्पन्न हुआ।

निष्काम कर्म रूप उत्तम कर्म, अन्तिम जन्मरूप बुढ़ापा, रूपादि विषय की लालसा से रहित विवेकरूप अन्धे पुत्र से तात्पर्य है।

तं तादृशमभिप्राप्य पुष्टयोस्तुष्टचित्तयोः ।
कालः कश्चिद्व्यतीयाय व्यग्रयोस्तस्य पालने ॥

वे उस अन्धे पुत्र को पाकर प्रसन्न और सन्तुष्ट-चित्त हो

गये और उसके पालन में तत्पर हुए, इसी में उन दोनों का कुछ काल व्यतीत हो गया ।

विवेकप्राप्ति का फल पूर्णकाम होना और मनःप्रसाद है, एकान्तसेवन आदि से कुछ काल तक उत्पन्न हुए विवेक का पालन करना चाहिए ।

स चोपनीतः प्रज्ञावान् प्राप्तवेदः स्वकात्पितुः ।
यथाशक्ति स्वधर्मेषु रतः पित्रोर्बलादभूत् ॥

और उपनयन के पश्चात् वह बुद्धिमान् पुत्र अपने पिता से वेदाध्ययन करके उनके आग्रह से यथाशक्ति स्वधर्माचरण में प्रवृत्त हो गया ।

एवं तस्मिन् सदाचारे ब्रह्मचारिव्रते स्थिते ।
ब्रह्मशर्मा पिता वृद्ध स्तत्समीपमुपागतः ॥

इस प्रकार जब वह सदाचार और ब्रह्मचारिव्रत में स्थित हुआ, तब उसका बूढ़ा पिता ब्रह्मशर्मा उसके पास आया ।

स्वरेण पितरं ज्ञात्वा प्रज्ञाचक्षुरुवाच तम् ।
पितर्जानासि केनाहं कर्मणान्धत्वमागतः ॥

स्वर से पिता को पहचान कर वह प्रज्ञाचक्षुः (अन्धा) पुत्र अपने पिता से बोला, हे पितः ! क्या आप जानते हैं कि मैं किस कर्म से अन्धा हुआ हूं ?

इति पृष्टः पिता प्राह मुञ्चन्नश्रूणि दुःखितः ।
तात! रत्नापहारेण प्रायो यान्त्यन्धतां नराः ॥

इस प्रकार पूछे जाने पर पिता आँसुओं को बहाता हुआ

दुःखी हो कर बोला, हे तात ! प्रायः रत्न की चोरी करने से मनुष्य अन्धे होते हैं।

हसन्नुवाच तं पुत्रः पितर्जन्मान्तरे कृतम् ।
हेतुं किमत्रे वदसि दृष्टमत्र वदाम्यहम् ॥

पुत्र हँसता हुआ बोला, हे पितः ! जन्मान्तर में किये कर्म को आप कारण क्यों बताते हैं, मैं दृष्ट हेतु को ही बताता हूँ।

कारणस्था गुणाः कार्य्ये आरभन्ते गुणानिति ।
लोका वदन्ति शुभ्रेभ्य स्तन्तुभ्यो नासितः पटः ॥

उपादान कारण में रहने वाले गुण अपने कार्य में अपने समानजाति वाले गुणों को उत्पन्न करते हैं—ऐसा लोग कहते है, क्योंकि श्वेत तन्तुओं से काला वस्त्र नहीं बनता है।

तद्वदन्धात्पितुर्जात श्चक्षुष्मान् स्यामहं कथम् ।
ब्रूयाश्चेत्कथमन्धोह मिति तन्मद्वचः शृणु ॥

इसी प्रकार अन्धे पिता से मैं आँखों वाला कैसे उत्पन्न होता ! यदि आप ऐसा कहें कि हम अन्धे कैसे हैं ? तो मेरा वचन सुनिए।

तत्त्वज्ञानमियं गोदा निष्कामं कर्म वञ्जरा ।
उभयोः सङ्गमे स्नाता मुक्तिं यान्ति न संशयः ॥

तत्त्वज्ञान ही गोदावरी नदी है, निष्काम कर्म ही वञ्जरा नदी है, दोनों के सङ्गम में स्नान करने से मुक्ति होती है, इसमें संशय नहीं।

यत्र गोदावरी देवी सङ्गता वञ्जराजलैः ।
तत्र स्नानं निवासश्च मुक्तिहेतुः सतां मतः ॥

जहां गोदावरी देवी वञ्जरा नदी से मिली है, सत्पुरुषों का वहां स्नान और निवास मुक्ति का हेतु है । अर्थात् निष्काम-कर्म जन्य अन्तःकरण–शुद्धि द्वारा ज्ञान से मुक्ति होती है ।

गारुत्मती नदी यत्र दृश्यते गौतमीजले ।
प्रयागस्तस्य तीर्थस्य किङ्करीभावमिच्छति ॥

गरुड़गङ्गा जहां गौतमी नदी में मिली है, प्रयाग उस तीर्थ की सेवा करने की कामना करता है ।

गरुड़गङ्गा=वेदान्त वाणी, गौतमी जल=ब्रह्मबोध, तीर्थ =ज्ञान ।

ब्रह्मज्ञानप्रवाहोयं सर्वकर्मापनोदकृत् ।
गौतमी नाम तस्यां या जलबुद्धिर्भ्रमस्तु सः ॥

सब कर्मों का नाशक ब्रह्मज्ञान-प्रवाह ही गौतमी नदी है, उसे जल समझना भ्रान्ति है ।

तात ! ब्रह्मास्त्रमादाय मशको मारितस्त्वया ।
यद्गोदां मुक्तिदां प्राप्य भुक्तिं प्रार्थितवानसि ॥

हे पितः ! जो मुक्ति के देने वाली निष्कामकर्म-रूप गोदावरी को पाकर भी आपने विषयप्राप्ति की अभिलाषा की, वह ब्रह्म अस्त्र से मच्छर को मारने के समान ही हुआ ।

आकर्णयामि लोकेभ्य श्चरितं तेऽद्भुतं महत् ।
स्नानाग्निहोत्राद्यपि य त्त्वया पुत्रेच्छया कृतम् ॥

मैं लोगों से आप के अत्यन्त अद्भुत चरित्रों को सुनता हूँ कि आप स्नान अग्निहोत्र आदि कर्म भी पुत्रकामना से ही करते रहे हैं।

श्वशूकरादिभिः पुत्राः किं प्रार्थ्यन्ते नु वल्लभाः ।
तैः को वा क्रियते धर्म स्तदर्थमिति चिन्तय ॥

क्या कुत्ते सुअर आदि कभी प्रिय पुत्रों की कामना करते हैं ? अथवा यही विचार करो कि व पुत्रों के लिए कौन सा धर्म करते हैं ।

क्षणिकाय सुखायैव ग्राम्यधर्मं प्रकुर्वताम् ।
नराणां सूकराणां वा त्वनुषङ्गिक्येव सन्ततिः ॥

क्षणिक सुख के लिये मैथुन धर्म को करते हुए मनुष्य तथा सूकरों को सन्तान की प्राप्ति आनुषङ्गिक ही है ।

आम का वृक्ष फल के लिये लगाया जाता है, स्वतः उसकी छाया का मिलना आनुषङ्गिक है ।

उत्पत्तिरिह जन्तूनां पित्रदृष्टकृता न हि ।
यदि स्यात्तात तर्हि स्यु रेते विट्क्रमयः कथम् ॥

क्योंकि इस संसार में प्राणियों का जन्म माता पिता के अदृष्ट (धर्माधर्म) के कारण नहीं होता है । यदि ऐसा हो तो हे पितः ! विष्ठा के कृमि कैसे उत्पन्न हों ?

यत्र यस्य समुत्पत्तिः सा तत्तत्कर्मसम्भवा ।
पित्रोः क्लेशैरलं तत्र तत्फलव्यभिचारिभिः ॥

जहां जिस का जन्म होता है, वह उसके स्वकर्मों के अनुसार ही होता है, उसके लिये माता पिताओं को क्लेश करना

वृथा है, क्योंकि पुत्र की उत्पत्ति के लिये किये गये जपयाग आदि जन्य क्लेशों का स्वकार्य्य के साथ व्यभिचार देखने में आता है।

धर्मा एव कृताः कुर्य्यु र्यदि सन्ततिमीप्सिताम्।
ग्राम्यधर्म्यं विनाप्येते किं न दद्युः फलं स्वकम्॥

यदि किये गये धर्म ही वाञ्छित सन्तान के कारण हों तो मैथुन धर्म के अभाव में ये धर्म अपने फल को क्यों नहीं देते?

दृष्टकर्मभिरुत्पाद्ये योऽदृष्टं हेतुमिच्छति।
भोजनोद्भवतृप्त्यर्थं स यागादि करिष्यति॥

जो वस्तु दृष्ट कर्म से सिद्ध हो सकती है उसकी सिद्धि के लिये जो अदृष्ट को कारण मानता है, वह भोजन से होने वाली तृप्ति के लिये याग आदि कर्म करेगा।

जाता अपि सुतास्तत्र त्यज्यन्ते यस्य हीच्छया।
तदात्मज्ञानमुत्सृज्य किं सुतः प्रार्थितस्त्वया॥

महात्मा लोग जिस आत्मज्ञान की इच्छा से उत्पन्न हुए पुत्रों को भी छोड़ देते हैं, उस आत्मज्ञान को त्याग कर आपने पुत्र की प्रार्थना क्यों की?

मानुषं जन्म सम्प्राप्य पशुपक्षिविलक्षणम्।
आत्मज्योतिर्यो न पश्ये देषोन्धो नाक्षिवर्जितः॥

पशु पक्षियों से विलक्षण मानुषजन्म को पाकर जिस पुरुष ने आत्मज्योतिः को नहीं जाना वही अन्धा है, आँखों से रहित पुरुष अन्धा नहीं।

अवश्यमीक्षणीयात्म ज्योतिस्तूत्सृज्य वीक्षते ।
पुत्रमित्रकलत्रादि यः सोन्ध इति कथ्यते ॥

अवश्य देखने योग्य "आत्मज्योतिः" को छोड़ कर जो पुरुष पुत्र मित्र स्त्री आदिको देखता है, उसे ही अन्धा कहते हैं।

गौतमीं प्राप्य तत्रापि वज्रासङ्गमं त्वया ।
यद्वीक्षणीयं तन्नैक्षि ततोऽन्धस्त्वं न संशयः ॥

आपने गौतमी और वज्रासङ्गम को पाकर भी जो वस्तु देखने योग्य थी उसे नहीं देखा, अतः आप अन्धे ही हैं इस में संशय नहीं।

गौतमी=ब्रह्मज्ञान और वज्रासङ्गम=निष्काम कर्मानुष्ठान, ये दोनों आत्मसाक्षात्कार के साधन हैं—ऐसा जान कर भी जो आत्मा को नहीं जानता वह अन्धे के समान है।

बहुना किमिहोक्तेन गौतमीतीरमाश्रितः ।
यः केवलैहिकासक्तः सोन्ध एव न संशयः ॥

बहुत कहने से क्या लाभ ! जो पुरुष तत्त्वज्ञानोपयोगी मानुष देहरूप गौतमी के तट पर पहुंच कर केवल इस लोक के पदार्थों में ही आसक्त रहता है वह निस्सन्देह अन्धा ही है।

तस्मादन्धात्समुत्पन्नो ह्यमप्यन्धोभवं किल ।
सुतो हि प्रायशस्तात ! पितुः सादृश्यमश्नुते ॥

हे पितः ! इस लिये अन्धे से उत्पन्न होने के कारण मैं भी अन्धा हुआ हूं, क्योंकि पुत्र प्रायः पिता के समान ही होता है।

परन्तु गौतमीतीर कृतेन सुकृतेन मे।
यत्प्रार्थिता जनिस्तेन नाहमन्धोस्मि सर्वदृक्॥

परन्तु आप ने गौतमी तीर पर पुण्य कर्मों द्वारा जो मेरी उत्पत्ति के लिये प्रार्थना की थी, उसी के कारण मैं वस्तुतः अन्धा नहीं हूं किन्तु सर्व का द्रष्टा हूं।

चक्षुःसूर्य्योदयो ह्येते दृश्यभेदेषु केषुचित्।
सहायतां प्रपद्यन्ते भासकस्य चिदात्मनः॥

ये नेत्र सूर्य्य आदि पदार्थ किञ्चिन्मात्र रूपादि विषयों के प्रकाशन में ही प्रकाशमान चिदात्मा की सहायता करते हैं, अपने आप विषय को प्रकाशित नहीं कर सकते!

अन्धकारस्थितं वस्तु प्रकाशयति दीपके।
यथा तैलादयस्तद्व च्चिति स्युर्भास्करादयः॥

जैसे अन्धेरे में रखी हुई वस्तु को प्रकाशन करते हुए दीपक की तैल आदि सहायता करते हैं, ऐसे ही सूर्य्य आदि पदार्थ रूपादि को जानने में चिदात्मा की सहायता करते हैं!

भास्कराद्याः प्रकाशन्ते न स्वतः किन्तु चिद्बलात्।
स्वतस्तेषां प्रकाशश्चे न्मत्प्रत्यक्षाः कथं न ते॥

सूर्य आदि अपने आप प्रकाशमान नहीं हैं किन्तु आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हैं, यदि उनका प्रकाश स्वतः होता तो वे मुझ अन्धे को भी क्यों नहीं दिखाई देते?

जब अन्तःकरण नेत्र-इन्द्रिय द्वारा बाहर निकल कर तथा सूर्य पर पहुँच कर सूर्य्याकार-परिणाम को प्राप्त होता है तब

सूर्य्यावच्छिन्न चित् और अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चित्–दोनों चित् एक होकर सूर्य्य को प्रकाशन करती हैं। जिस पुरुष की नेत्रेन्द्रिय–रूप नाली नष्ट हो चुकी है, उसके अन्तःकरण को विषय के स्थान पर जाने का मार्ग न होने के कारण तथा विषयावच्छिन्न चित् और अन्तःकरणावच्छिन्नचित् की एकता न होने से सूर्य्य आदि पदार्थ उसे नहीं भासते हैं। अथवा अन्तःकरण, नेत्रद्वारा सूर्य्य पर पहुँच कर सूर्य्याकार–परिणाम को प्राप्त होता है इसी परिणाम को 'वृत्ति' कहते हैं, वृत्ति से सूर्य्यावच्छिन्न चित् का अभानरूप आवरण नष्ट हो जाता है और सूर्य्याकारवृत्ति में प्रतिबिम्बित चित् सूर्य्यको प्रकाशन कर देता है। अन्धे के नेत्ररूप द्वार के न होने के कारण पूर्वोक्त वृत्ति के न होने से सूर्य्य आदि का ज्ञान अन्धे को नहीं होता।

दोनों प्रकार से यही सिद्ध होता है कि जड़ सूर्य्य आदि पदार्थोंको चित् ही प्रकाशन करती है, वे स्वतः प्रकाशमान नहीं हैं।

चक्षुर्यस्यास्ति विमलं स शब्दैः किं करिष्यति ।
बधिरः पद्मपत्राक्षः किं शब्दं प्रतिपद्यते ॥

जिस पुरुष की आँखें निर्मल हैं वह पुरुष उन आँखों द्वारा शब्दों से क्या लाभ उठा सकता है ? क्या कमल–लोचन कान से बहरा पुरुष कभी शब्द को सुन सकता है !

तस्माच्चिज्ज्योतिरेवेदं सर्वदृग्रूपमिष्यते ।
तद्यस्य स्फुरति स्पष्टं सोन्धः कथमिवेष्यते ॥

अतः यह चिद्रूप ज्योति ही सब का नेत्र है, जिस पुरुष

की चित्प्रकाशरूप आँख स्पष्ट स्फुरण हो रही है, उसे अन्धा कैसे कह सकते हैं ?

यान्धता मम सञ्जाता सा न दुष्कृतसम्भवा ।
किन्त्वनुग्रह एवायं राघवस्य चिदात्मनः ॥

और जो मेरा अन्धापन है वह दुष्कर्मों के कारण नहीं है, किन्तु चिदात्मस्वरूप श्री राघव का अनुग्रह ही है !

तथा ह्यन्धतया नाभू द्बन्धो दारादिको मम ।
न कर्मस्वधिकारोऽभू न्नाभून्नानार्थसंस्मृतिः ॥

क्योंकि अन्धा होने के कारण मेरा स्त्रीआदि-गार्हस्थ्य-रूप बन्धन नहीं हुआ, इसी लिये न मैं कर्मों का अधिकारी हुआ और मुझे अतएव अनेक पदार्थों की स्मृति भी नहीं होती ।

अर्थात् मोक्षप्रतिबन्धक ये सब विक्षेप केवल नेत्रों के कारण ही होते हैं सो भगवान् ने नेत्रों को न दे कर मुझ पर अपार अनुग्रह किया है ।

पश्यतोऽन्तः परं ज्योति र्ज्योतिरन्तरभासकम् ।
मम प्रतिहता दृष्टि र्न बाह्यं किञ्चनेक्षते ॥

सूर्य्य आदि ज्योतियों को प्रकाशन करने वाली सब से उत्तम आभ्यन्तर ज्योति को देखते देखते मेरी चर्मदृष्टि नष्ट हो कर किसी बाह्य पदार्थ को नहीं देखती है ।

जायाविसम्भुताद्येत न्मायामात्रं विजानतः ।
कायाद्विभक्तश्चात्मान मायासः कोवशिष्यते ॥

इन स्त्रीधन पुत्र आदि को मायामात्र और आत्मा को शरीर से भिन्न समझते हुए पुरुष के लिये कौन सा कर्मानुष्ठानादि परिश्रम शेष रह जाता है ?

रहः स्थितस्य सततं महश्चिन्तयतोऽमलम् ।
अहःक्व रजनी कैषा यदस्ति तत्तमस्तु मे ॥

एकान्त में बैठ कर निर्मल ज्योति का निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझे दिन और रात कहाँ ! जो कुछ यह जगत् है वह अन्धकारमय ही है ।

रामोहमस्मीति विजानतो मे कामो न वित्तेन सुतेन लोके ।
का मोहवार्त्ता क्व च कर्मबीजं नामोर्ज्जितं वा क्व भवार्णवस्य ॥

"मैं ब्रह्म हूँ"–इस प्रकार क ज्ञान वाला मैं इस लोक में धन पुत्र आदि की कामना नहीं रखता हूँ, मोह की तो बात ही कैसी ? और भ्रम कहाँ, तथा संसार—समुद्र का भयङ्कर नाम भी कहाँ ?

न चन्द्रसूर्य्यौ मम दर्शनीयौ न वा कृशानुर्न परोक्तिलेशः ।
एषामभावेपि यदन्तरास्ते ज्योतिः सदा तत्परिचिन्तयामि ॥

चन्द्र सूर्य्य और अग्नि मेरे लिये दर्शनीय वस्तु नहीं हैं और दूसरे के उपदेश का लेशमात्र भी मुझे अपेक्षित नहीं है, इन के न होते हुए भी जो भीतर ज्योतिः है, उसे मैं सदा चिन्तन करता हूँ ।

मनो दशाविशेषं मे विषयस्नेहवर्जितम् ।
दहत्यन्तर्गतस्यस्तु मत्कर्मराशिमक्षयम् ॥

विषयरूप स्नेह से रहित सूखी बत्ती के समान मेरे मन को दग्ध करते हुए आभ्यन्तर ज्योतिः में मेरे कर्मरूप पतङ्गों का नाश हो ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि हितं ते शृणु तत्पितः ।
येन त्वं विषयासङ्गं हित्वा यास्यसि तत्पदम् ॥

हे पितः ! अब मैं आप के हित की बात कहता हूँ, उसे सुनो, जिसको सुन कर विषयासक्ति का त्याग करके आप परम पदको प्राप्त होवेंगे ।

अहं राम इति ज्ञानं महन्तोच्छित्तिकारणम् ।
दहन्तं भवमालोक्य न हन्त किमुपास्यते ॥

"मैं राम हूँ"— यह ज्ञान अहङ्कार के नाश का कारण है तथा संसार का दाहक है, ऐसा जान कर इस ज्ञान का अभ्यास आप क्यों नहीं करते ?

आत्मानमेव सुखरूपमुपेक्ष्य चेतः
किं क्लेशमेषि विषयोद्भवतोषसिद्ध्यै ।
गङ्गाजले निवसता तृषितेन पुंसा
किं प्रार्थ्यतेऽम्बु करकल्पितकूपनिष्ठम् ॥

हे पितः ! सुखरूप आत्मा की उपेक्षा करके विषयजन्य सुख के लिये क्यों क्लेशों को प्राप्त होते हो ? गङ्गाजल में विद्यमान प्यासा पुरुष क्या हाथ के बनाए हुए कुएँ के जल की इच्छा करता है ? (मूल में 'चेतः' पद अविवक्षित है)

सच्चित्सुखात्मकमवाप्नवतात्मरूपं
किं वा त्वया विषयजं सुखमेषितव्यम् ।

यस्तृप्तिमेति घृतपायसशर्कराभिः।
किं तस्य हन्त वद काञ्जिकयास्ति कृत्यम् ॥

क्या तुम्हें सच्चिदानन्दात्मक आत्मा को पा कर विषय-जन्य सुख की इच्छा करना उचित है ? जो पुरुष घृत, खीर तथा खाण्ड से तृप्त हो रहा है उसे काञ्जी से क्या प्रयोजन है ?

यत्सङ्गाद्‌ व्यवहारमेतमखिलं संसाधयस्यञ्जसा
तच्चिन्तामपहाय दग्धविषयासक्तिस्तवास्ते कुतः।
किं संसारलयं न चैषि किमथानन्दं परं गाहसे
किं वाच्यं वद चेष्टितं तव भवक्लेशाय यत्कल्पते ॥

आप जिस आत्मा के सङ्ग (सहायता) से समस्त व्यवहार को अच्छे प्रकार सिद्ध करते हैं, उसका चिन्तन छोड़ कर तुच्छ विषयों में आप की आसक्ति क्यों है ? क्या आप सुषुप्ति को प्राप्त नहीं होते तथा सुषुप्ति को प्राप्त हो कर क्या परमानन्द को अनुभव नहीं करते ? आप की चेष्टा संसारक्लेश का हेतु क्यों हो रही है ? अर्थात् आप प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होते हैं और उस अवस्था में आत्मरूप परमानन्द का अनुभव भी करते हैं अतः परमानन्दरूप आत्मा का अनुभव करके भी अनित्य तथा मिथ्या विषयजन्य सुखों में आसक्ति करना एक अद्‌भुत चेष्टा है।

कामादिधर्मसहितं भवतो मनो यत्
तद्येन सिद्धिमुपयाति सदोज्ज्वलेन।
तज्ज्योतिरान्तरमपास्य पितः कुतस्ते
बाह्याय बाह्यमहसः प्रथते व्यपेक्षा ॥

हे पितः ! आप का काम आदि धर्म वाला मन जिस सदा-प्रकाशमान ज्योतिः की कृपा से अपने अभिलषित विषयों को प्राप्त करता है, उस भीतर के ज्योतिः को छोड़ कर बाह्य विषयों की प्राप्ति के लिये बाह्य सूर्य्य आदि ज्योतिः की इच्छा आप क्यों करते हैं ?

यदि चैवं मनसि ते शङ्काशूकः प्रवर्तते ।
बालोऽयं पण्डितंमन्य इति तात ततः शृणु ॥

हे पितः ! यदि आप को ऐसी शङ्का होती हो कि यह बालक हो कर अपने आप को पण्डित मान रहा है, तो सुनो !

पशुः परमहंसश्चे त्याख्या देहस्य नात्मनः ।
वद विद्वंस्तदन्तःस्थे को विशेषश्चिदात्मनि ॥

"पशु" और "परमहंस" यह देह की संज्ञा है आत्मा की नहीं, हे विद्वन् ! उन दोनों के आत्मा में क्या भेद है ?

अविवेकविवेकौ यौ भेदकौ पशुहंसयोः ।
तौ मनःपरिणामत्वा चिद्भास्यौ न चिदात्मकौ ॥

जो अविवेक और विवेक, पशु और परमहंस में भेद करने वाले हैं वे दोनों मन के परिणाम होने के कारण चित से प्रकाशित हैं, चिदात्मरूप नहीं हैं ।

अतश्चिदात्मा भूतेषु सर्वेषु सम इष्यते ।
उच्चावचत्वमन्यस्थं भ्रान्त्या चिद्रूप ईक्ष्यते ॥

इस लिये चिदात्मा सब भूतों में सम है । छोटापन तथा बड़ापन मन आदि के धर्म हैं, किन्तु भ्रम से आत्मा में प्रतीत हो रहे हैं ।

न चितेः संसृतिमृती न सृतिर्वापि लिङ्गगाः ।
घटीयन्त्रघटीछन्न भ्रमद्भिन्नभोंशवत् ॥

जैसे घटीयन्त्र के घड़ों से युक्त अनेक आकाश घटीयन्त्र के घूमने से घूमते हुए से प्रतीत होते हैं, वस्तुतः आकाश घूमता नहीं, ऐसे ही संसार, मृत्यु तथा उत्तरायणआदि गतियाँ लिङ्ग-शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं ।

कामयोहान्वितं तात मनः स्वीयं विशोधय ।
उदास्से यदि चात्र त्व मुपास्से कथमीश्वरम् ॥

हे पितः ! काम और मोह से युक्त मन का शोधन करो, यदि इस विषय में तुम उपेक्षा करोगे तो ईश्वर की उपासना भी कैसे करोगे ?

शोकमोहादिभिर्धर्मैं र्लेपस्तत्साक्षिणो न ते ।
नीलपीतादिभी रूपैः स्वप्रकाश्यैरवेरिव ॥

जैसे सूर्य्य से प्रकाशित नीलपीत आदि रूपों के साथ सूर्य्य का सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही शोक मोह आदि धर्मों के साथ तुझ साक्षी का भी सम्बन्ध नहीं है ।

शोकमोहौ मनोनिष्ठौ जरामृत्यू तनौ स्थितौ ।
प्राणनिष्ठे क्षुत्पिपासे त्वं तु शुद्धमहोमयः ॥

शोक मोह मन के, जरा मृत्यु शरीर के और भूक प्यास प्राण के धर्म हैं, आप तो शुद्ध तेजःस्वरूप हैं ।

परद्रव्यापहारेण यथा चौरः प्रपीड्यते ।
अन्योर्मिचयसञ्चित्या चिदात्मैवं प्रदुष्यति ॥

जैसे चोर दूसरे की वस्तु चुराने के कारण अत्यन्त (कारागार आदि) पीड़ाओं को पाता है, ऐसे ही दूसरों की ऊर्मियों को अपने में मान कर चिदात्मा जन्मादि दुःखों को पाता है।

शोक मोह, जरा मृत्यु, भूक प्यास ये छ "ऊर्मि" हैं ।

अतः प्रकाशमानं स तेजोन्तरविभासकम् ।
चक्षुस्तदेवाविनाशि चक्षुष्माँस्तेन मानवः ॥

अतः स्वयंप्रकाशमान हो कर आदित्य आदि अन्य तेजों का प्रकाशक वही अविनाशी आत्मा वास्तविक नेत्र है और मनुष्य इसी नेत्र के कारण ही नेत्र वाला है ।

अतः पुत्रो ममान्धोयं प्राक्तनैर्दुष्कृतोच्चयैः ।
इत्यविद्यां परित्यज्य स्वचक्षुर्विमलीकुरु ॥

"पूर्वजन्म के अनन्त पापकर्मों के कारण मेरा यह पुत्र अन्धा है"—इस अविद्या को त्याग कर अपनी आत्मरूप आँख को निर्मल करो ।

मुख्यं हि चक्षुरात्मैव सर्वदृश्यप्रकाशकम् ।
तन्मालिन्यं च चित्तेन तस्मात्तद्विमलीकुरु॥

सर्ववस्तुओं का प्रकाशक आत्मा ही मुख्य नेत्र है, और चित्त उस की मलिनता का कारण है, अतः उस चित्त को विमल करो ।

बोधितस्तं पितोवाच कोयमात्मेति मे वद ।
देहेन्द्रियासुसंघाते कस्त आत्मा विवक्षितः ७॥

इस प्रकार बोधन किया गया पिता बोला, "यह आत्मा कौन है ? "—इसे कहो, देह-इन्द्रिय-प्राणसमुदाय में से तुम किसे आत्मा कहते हो ?

जनकेनैवमादिष्टः प्रज्ञाचक्षुरुवाच तम् ।
येन पश्यति रूपाणि शब्दान् येन शृणोति च ॥
गन्धं गृह्णाति येनाथ येन स्पर्शं प्रपद्यते ।
रसं जानाति येनात्र स आत्मेत्यवधारय ॥

इस प्रकार पिता से पूछे जाने पर प्रज्ञाचक्षु पुत्र बोला, पुरुष जिस से रूप को देखता है, शब्दों को सुनता है, गन्ध और स्पर्श को ग्रहण करता है और रसों को जानता है, वही आत्मा है ऐसा जानो ।

अशनायापिपासे यः शोकमोहं जरां मृतिम् ।
अत्येति विद्धि तात त्वं स आत्मेति श्रुतेर्बलात् ॥

हे पितः ! जो शोक मोह, भूक प्यास और जरा मृत्यु से रहित है, श्रुतिप्रमाण से वही आत्मा है ।

अध्येषितः सुतेनैवं ब्रह्मशर्मात्मचिन्तनात् ।
वञ्जरासङ्गमे तन्वि मुक्तिं प्राप द्विजोत्तमः ॥

हे सुन्दर शरीर वाली चित्तवृत्ति ! इस प्रकार पुत्र से उपदेश किया गया द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मशर्मा वञ्जरा के सङ्गम पर आत्मचिन्तन करके मुक्ति को प्राप्त हो गया ।

चित्तवृत्ते मया प्रोक्तमन्धोपाख्यानमुत्तमम् ।
चिन्तयन्ती विशेषेण विषयाशां परित्यज ॥

हे चित्तवृत्ते ! मुझसे उपदेश की गई इस उत्तम कथा का विचार करती हुई तू विषयों की कामना को सर्वथा त्याग दे ।

॥ इति द्वितीयः कवलः ॥

ॐ

अथ तृतीयः कवलः ।

द्वितीयकवल में पदार्थशोधनपूर्वक आत्मा की चिद्रूपता का निरूपण करके इस तृतीय कवल में श्रुति तथा युक्ति से उसकी आनन्दता का वर्णन करते हैं ।

इत्थं प्रबोधिता तेन विवेकाश्रमयोगिना ।
चिदात्मानं विनिश्चित्य पप्रच्छ पुनरेव तम् ॥

विवेकाश्रम योगी से इस प्रकार उपदेश की गई वह चित्तवृत्ति, चिदात्मा का निश्चय करके फिर उसको पूछने लगी ।

भ्रातर्विवेकाश्रम सम्यगुक्तं
युक्त्या प्रमाणेन चिदात्मतत्त्वम् ।
आनन्दतायां पुनरस्य मानं
युक्तिश्च मे ब्रूहि विमोहितायाः ॥

हे भाई विवेकाश्रम ! तू ने चिदात्मतत्त्व का युक्ति-प्रमाणपूर्वक अच्छे प्रकार निरूपण किया, पर अब मुझ विमूढा के प्रति आत्मा की आनन्दता को युक्ति तथा प्रमाणपूर्वक वर्णन कर ।

चित्तवृत्तेरिदं वाक्यं श्रुत्वा सन्तुष्टमानसः ।
स विवेकाश्रमः प्राह तद्विपर्यासभिद्वचः ॥

चित्तवृत्ति के इस वाक्य को सुन कर प्रसन्नचित्त विवेकाश्रम उसके विपरीतज्ञान को नष्ट करने वाले वचनों को बोला।

वाञ्छस्युपेयं तन्वङ्गि ! नोपायमभिवाञ्छसि।
यद्दुष्टचित्ता विषयैः पृच्छस्यात्मसुखं महत् ॥

हे सूक्ष्माङ्गि ! जो तू विषयों से दूषितचित्त होकर आत्मा की महानन्दता को पूछती है सो तू उपेय (फल) को चाहती है और उपाय को नहीं !

जो पुरुष विषयों के परित्याग किये बिना आत्ममहासुख की कामना करता है, उसकी वही दशा है जो विना किसी उपाय के फलविशेष की अभिलाषा रखने वाले पुरुष की होती है। किन्तु विषयों के त्याग किये बिना आत्मानन्दता का ज्ञान नहीं हो सकता।

क्षणिकैर्विषयोद्भूतै रानन्दैरभिभूतया।
शक्यं ज्ञातुं कथं भद्रे ! त्वयाऽऽत्मसुखमीप्सितम् ॥

हे भद्रे ! तू विषयों से उत्पन्न क्षणिक आनन्दों में फँसी हुई है, फिर आत्मसुख को कैसे जान सकती है ?

रसालफलवत्पुंसा मन्तःकरणमिष्यते।
अपक्कं बहुदोषाय पक्कं तोषाय कल्पते ॥

पुरुषों का मन आम्रफल के समान है, कच्चा (अशुद्ध) मन बहुत विकारों (दुःखों) का देने वाला है और पका हुआ (शुद्ध) मन संतोष (ज्ञानप्राप्ति द्वारा महासुख) को देने वाला है।

दुष्टेन्द्रियः स्वेष्टतमं विषयं कथमृच्छति ।
पित्तोपहतजिह्वस्य दुर्लभो गुडगो रसः ॥

दुष्ट-इन्द्रियों वाला पुरुष अपने अत्यन्त अभीष्ट विषय को कैसे जान सकता है ? जिस की जिह्वा पित्तदोष के कारण रस के अनुभव करने में असमर्थ हो गई हो वह पुरुष गुड की मिठास को कैसे जान सकता है ?

बलवत्स्वसजातीय ग्रहणापादितोऽग्रहः ।
यथा कामलरूपोत्थः शङ्खशौक्ल्यस्य विद्यते ॥
तथा विषयजानन्द ग्रहणापादितोऽग्रहः ।
आत्मानन्दस्य तन्वङ्गि ! निवर्त्तेताचिरात्कथम् ॥

जैसे कामल-रोग के कारण शङ्ख की शुक्लता का ज्ञान नहीं होने पाता, क्योंकि शङ्ख की शुक्लता के समानजाति वाले कामलरोग के पीत रूप का बलवान् ज्ञान शङ्ख की शुक्लता के अनुभव को नहीं होने देता, इसी प्रकार हे चित्तवृत्ते ! विषयजन्य आनन्द का अनुभव आत्मानन्द के ज्ञान को नहीं होने देता, अतएव परमानन्द-विषयक अज्ञान की शीघ्र निवृत्ति नहीं होती है ।

दुष्टे विषयजानन्द बिन्दुचुम्बनलम्पटे ।
मनःशुनि कथं वा स्या दात्मानन्दाब्धिदर्शनम् ॥

जब तक मनरूप कुत्ता विषयजन्य आनन्द की बूँदों को चाटने में आसक्त है, तब तक आत्मानन्दसमुद्र का दर्शन कैसे हो सकता है ?

हिरण्यनिधिमाच्छन्न मज्ञेत्रज्ञा यथा नराः ।
परिभ्रमन्तोऽप्युपरि न विन्दन्त्यप्रबोधतः ॥
नक्तं दिवं ब्रह्मलोकं यान्त्योऽपीमाः प्रजास्तथा ।
प्रत्यक्तया न विन्दन्ति महामोहावगुण्ठनात् ॥

जैसे दबे हुए सुवर्णनिधि को न जानने वाले पुरुष उसके ऊपर ऊपर घूमते हुए भी उसको प्राप्त नहीं कर सकते ऐसे ही रात दिन आत्मस्वरूप को प्राप्त होती हुई भी ये प्रजाएँ महामोह से आवृत होने के कारण अपने "प्रत्यक्" स्वरूप को नहीं जानती हैं।

इति सौरेश्वरं वाक्य द्वयं श्रुतिशिखाश्रयम् ।
ब्रूते मदुक्तमेवार्थ मिति तन्व्यवधारय ॥

हे सुन्दर शरीर वाली ! श्री सुरेश्वराचार्य्यजी के ये वेदान्तमूलक दोनों श्लोक मेरे कहे अर्थ की ही पुष्टि करते हैं— ऐसा तू निश्चित जान।

महामोहविलासोत्थ विषयाभ्रसुसंवृतः ।
नाभासतेऽन्तिकस्थोऽपि प्रत्यगानन्दचन्द्रमाः ॥

महामोह के विलास से उत्पन्न विषयरूप मेघ से छिपा हुआ आत्मरूप चन्द्रमा अत्यन्त समीप होता हुआ भी प्रतीत नहीं होता।

लब्धत्रैलोक्यराज्यो ना भिक्षां नाकाङ्क्षते यथा ।
एवं लब्धपरानन्दः क्षुद्रानन्दं न काङ्क्षति ॥

जैसे तीन लोक के राज्य को प्राप्त हुआ मनुष्य भिक्षा की

आकाङ्क्षा नहीं करता, ऐसे ही परमानन्द को प्राप्त हुआ पुरुष निकृष्ट विषयसुख की इच्छा नहीं करता।

इति सौरेश्वरं वाक्यं परानन्ददुरापताम् ।
दृष्टान्तमिषतो वक्ति ज्ञास्यसि त्वं कथं नु तम् ॥

श्री सुरेश्वराचार्य्यजी का यह वाक्य परमानन्दात्मा की दुर्लभता को दृष्टान्त के मिष से कह रहा है। हे चित्तवृत्ते ! तू इस परानन्दता को कैसे जान सकेगी ?

चित्तवृत्ते ! यदा सङ्गं त्यक्त्वा विषयजे सुखे ।
प्रत्यक्प्रवणतां यास्य स्यथानन्दं तमाप्स्यसि ॥

हे चित्तवृत्ते ! जब तू विषयजन्य-सुखों के सङ्ग को छोड़ कर प्रत्यगात्मा में आरूढ़ होगी, तभी उस आनन्द को पा सकेगी।

रम्भातिलोत्तमादिस्व रङ्गनालिङ्गनादिजम् ।
सुखं किं प्राप्यते स्वर्गे प्रमाणाकर्णनान्नृभिः ॥

रम्भा तिलोत्तमा आदि स्वर्गीय स्त्रियों के आलिङ्गन से होने वाला सुख क्या कभी स्वर्गविषयक शास्त्रप्रमाणों के सुनने मात्र से प्राप्त हो सकता है ?

ज्योतिष्टोमादिकर्त्ता तु स्वर्गमानश्रुतिं विना ।
सुखं स्वर्गस्थमाप्नोति मानान्वेषणयास्य किम् ॥

ज्योतिष्टोम आदि यागों के करने वाला पुरुष तो स्वर्ग-विषयक शास्त्रप्रमाण सुने बिना ही स्वर्गसुख को प्राप्त होता है, उसे प्रमाण ढूँढने से क्या प्रयोजन है ?

तद्वच्चित्तविशुद्ध्यादि द्वारा प्रत्यक्परा यदा ।
भविष्यसि वरारोहे तमात्मानन्दमेष्यसि ॥

हे उत्तम स्त्री ! इसी प्रकार जब तू चित्तशुद्धि द्वारा प्रत्यगात्मा में तत्पर हो जायगी तभी उस आनन्द को पा सकेगी ।

ततो व्यर्थोयमुद्वेगो वक्तुः क्लेशवहस्तव ।
यदात्मानन्दमानञ्च तद्युक्तिश्चापि पृच्छसि ॥

इस लिये जो तू आत्मानन्दता के विषय में प्रमाण और युक्ति को पूछती है, यह तेरी उत्कण्ठा मुझ वक्ता के लिये व्यर्थ क्लेश को देने वाली है ।

ज्येष्ठास्यथापि भगिनी सन्मार्गानुसृतासि च ।
तत आत्मानन्दतायां मानं युक्तिं वदाम्यहम् ॥

तथापि तू मेरी बड़ी बहिन है तथा सन्मार्ग में प्रवृत्त हुई है, इस लिये मैं आत्मानन्दता के विषय में युक्तिपूर्वक प्रमाणों को कहता हूँ ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तपः कृत्वा भृगुः किल ।
आनन्दं ब्रह्मणस्तत्त्वं ज्ञातवानिति या श्रुतिः ॥

महर्षि भृगु ने तप करके अन्वय और व्यतिरेकपूर्वक निश्चय किया था कि आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है ।

या च विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति प्राह निश्चितम् ।
सैषानन्दस्य मीमांसे त्युपक्रम्य शतोत्तरान् ॥

उक्तानन्दान्वदति या ह्यात्मानन्दमनुत्तमम् ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा नित्याद्यान्ते च या श्रुतिः ॥

बृहदारण्यक की "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"–यह श्रुति आत्मा की परमानन्दता में प्रमाण है । तथा तैत्तिरीयोपनिषत् की ब्रह्मानन्द वल्ली के आठवें अनुवाक में "सैषानन्दस्य मीमांसा" (अब आनन्द की मीमांसा की जाती है) इत्यादि आरम्भ करके मानुष आनन्द से लेकर ब्रह्मा के आनन्द तक जितने आनन्द (पूर्व पूर्व की अपेक्षा से उत्तरोत्तर सौ सौ गुणा अधिक) कहे गये हैं वे सब आनन्द तत्त्वज्ञानी को होते हैं । और यह आत्मा ही आनन्दमय है–इस प्रकार परमानन्द रूपता का निरूपण किया गया है । तथा इसी वल्ली के चतुर्थानुवाक में भी—

"यतो वाचो निवर्त्तन्त अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ॥

जहाँ वाणी और मन दोनों न पहुँच कर लौट आते हैं—उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जो मनुष्य जान लेता है उसे किसी से भय नहीं होता ।" इत्यादि कहा गया है ।

एषोस्य परमानन्द इति या वक्ति च स्फुटम् ।
को ह्येवान्यादिति प्राह यानन्दत्वं परात्मनः ॥

"एषोऽस्य परमानन्दः" तथा, "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति"— इत्यादि ब्रह्मवल्ली के सातवें अनुवाक में भी आत्मा की आनन्दरूपता का निरूपण किया गया है । "एषोऽस्य परम आनन्दः,

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ० ४ । ३ । ३२) "यह इसका परम आनन्द है, इसी आनन्द की मात्रा (अंश) को पाकर अन्यान्य भूत जीवन पाते हैं।" अर्थात् प्राणियों को जितने भी सुख होते हैं वे सब इस आनन्द का ही अंश हैं।

तदाद्याः श्रुतयो ब्रह्मा नन्दत्वे यान्ति मानताम् ।
न च तास्वविगीतासु प्रामाण्ये कोपि संशयः ॥

इत्यादि अन्यान्य श्रुतियां भी ब्रह्मानन्द के विषय में प्रमाण हैं, ये सब श्रुतियां "ब्रह्मात्मैक्य" रूप एक ही अर्थ को एक स्वर से प्रतिपादन करती हैं, अतः उनकी प्रमाणता में कोई सन्देह नहीं है।

न च पूर्वोत्तरोत्पन्न शिष्टत्रैवर्णिकाश्रितम् ।
तासामर्थं परित्यज्या ङ्गीकुर्मोऽनुपकल्पितम् ॥

पूर्वोत्तरकाल में होनेवाले व्यास, वशिष्ठ, शुक, ऋषभ आदि तीनों वर्णों के शिष्ट महापुरुषों से अनुमत श्रुतियों के अद्वैतरूप अर्थ को छोड़कर "विशिष्टाद्वैत" आदि अर्थों को अङ्गीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन अर्थों में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है।

अद्वितीयचिदानन्दा नन्तसद्रूप आत्मनि ।
तात्पर्य्यनिर्णयोपायैः षड्भिः श्रुत्यर्थतां गते ॥
येऽस्मिन्विप्रतिपद्यन्ते तर्कैरापातसुन्दरैः ।
ये वा वेदान्तवाक्यानां स्वेच्छयार्थान्तरं क्वचित् ॥

कल्पयन्ति नरा नैते चेष्टया किन्तु वानराः ।
दण्डनीया महीपालै रासभारोहणादिभिः ॥

श्रुति के तात्पर्य को निर्णय करने के साधन उपक्रम आदि छ लिङ्गों से श्रुति का अर्थ अद्वितीय चिदानन्द अनन्त सद्रूप आत्मा में निश्चित हो चुका है, फिर भी आपातसुन्दर (सुनने मात्र से सुन्दर परन्तु गूढ़ार्थ विचार करने से निःसार) तर्कों से जो पुरुष इस श्रुत्यर्थ में विपरीतबुद्धि करते हैं या जो अपनी इच्छानुसार वेदान्तवाक्यों के अन्य अन्य अर्थों की कल्पना करते हैं, वे "नर" नहीं हैं किन्तु ऐसी चेष्टा से वे वानर हैं ! राजाओं को चाहिये कि ऐसे मनुष्यों को मुँह काला करके गधे पर चढ़ाने आदि के दण्ड देवें ।

श्रुति का तात्पर्य निर्णय करने के लिये उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छ लिङ्ग (प्रमाण) हैं ।

अद्वितीये चिदानन्दे श्रुतिप्रोक्ते ऽत्र ये भिदाम् ।
कल्पयन्त्यनिरीक्ष्यास्या स्ते निष्कास्याः पुराद्बहिः ॥

श्रुतिप्रतिपादित अद्वितीयचिदानन्द आत्मा के विषय में जो पुरुष भेद की कल्पना करते हैं उनका मुँह नहीं देखना चाहिये और उन्हें नगर से बाहर निकाल देना चाहिये ।

वरं बन्ध्या महीलोके वरं व्याघ्रप्रसूरपि ।
तादृशी मास्तु जननी या सूते भेदवादिनम् ॥

पृथ्वीलोक में बन्ध्या का होना उत्तम है, बाघ को जनने

वाली सिंही भी अच्छी है, परन्तु लोक में भेदवादी को जनने वाली माता का होना अच्छा नहीं है ।

भेदवादकथोन्मत्ताः कार्याकार्यकथोज्झिताः ।
मद्यसम्पर्कमात्रेण कथं वाच्या द्विजा इति ॥

भेदवाद की कथा से उन्मत्त, कर्तव्य और अकर्तव्य के विचार से रहित भेदवादरूप मद्य को सेवन करने वाले पुरुषों को द्विज कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् जैसे मद्य के पीने वाला द्विज, द्विज नहीं रहता, ऐसे ही भेदवादी द्विज भी द्विजत्व से पतित हो जाता है ।

ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य—यह तीनों वर्ण द्विज कहलाते हैं क्योंकि इनके दो जन्म होते हैं, प्रथम जन्म माता की कुक्षि से और दूसरा उपनयनपूर्वक गायत्रीरूप माता से ।

ऐकात्म्यदूषणोद्युक्ता द्विजा नैतेपि तु त्रिजाः ।
यदि नैवं कथं कुर्य्यु र्वेदान्तार्थविपर्य्ययम् ॥

जो पुरुष अद्वैतवाद के दूषण में तत्पर हो रहे हैं, वे द्विज नहीं हैं किन्तु त्रिज (वर्णसंकर) हैं । यदि वे त्रिज न होते तो अद्वैत के विरोधी क्यों होते ?

तस्मादनुभभूतत्वात् भ्रमामाण्यत्रयोज्झिता ।
मानमानन्दभावे स्या दात्मनोऽस्य त्रयीशिखा ॥

अतः भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा (ठगने की इच्छा) रूप तीन प्रकार की अप्रमाणता से रहित वेदान्तवाक्य स्वतः-प्रामाण्यरूप सामर्थ्य वाले होने से आत्मा की आनन्दता में प्रमाण हैं ।

एवं सत्यपि युक्त्युक्तौ यद्युत्कण्ठास्ति सुभ्रु! ते।
ततस्तां व्याहरिष्यामि हरिष्यामि तमस्तव ॥

हे सुभ्रु! ऐसा होने पर भी यदि युक्तिश्रवण में ही तेरी उत्कण्ठा है तो मैं उन युक्तियों को कहता हूँ और तेरे अज्ञान को दूर करता हूँ।

सर्वस्य जन्तोरात्मैव प्रियो नास्त्यत्र संशयः।
प्रियता तस्य का येष्टा किं सुखोत्पत्तिहेतुता ॥
विषयेन्द्रियवत्किं वा सुखस्याश्रयता मता।
सुखप्रकाशे हेतुत्व मन्यथा किञ्चिदीप्सितम् ॥

इसमें कोई संशय नहीं कि सब प्राणियों को आत्मा ही प्यारा है, क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" आत्मा के लिये ही सब जगत् प्यारा है, पुत्र के हित के कारण पुत्र प्यारा नहीं है, किन्तु आत्मा ही के लिये पुत्र प्यारा है, इसी प्रकार मित्र, दारा, भाई और माता आदि सब आत्मा ही के लिये प्रिय हैं, आत्मा ही प्रधानरूप से प्रिय है, पुत्र आदि में गौण प्रीति है, उनमें केवल ममत्व का आरोप करके यह जीव प्रेम को मान रहा है, इस लिये विचार करना चाहिये कि आत्मा की प्रियता क्या वस्तु है?

आत्मगत-प्रियता क्या वस्तु है? १—क्या जैसे सुख की उत्पत्ति के कारण होने से विषय और सुख प्रिय हैं ऐसे ही सुख की उत्पत्ति का कारण होने से आत्मा प्रिय है, अतः सुखोत्पत्तिहेतुता ही प्रियता है? २—अथवा सुख का आश्रय आत्मा है

अतः सुखाश्रयता ही प्रियता है? ३—अथवा सुखप्रकाशकता ही प्रियता है? ४—या तू कुछ और ही आत्मगत-प्रियता को समझती है?

न तावन्सुखहेतुत्वं व्यभिचारीन्द्रियादिषु।
प्रियाणि तान्यपि स्युश्चे दात्मैवेति कथं वचः॥

जो सुख की उत्पत्ति का कारण है वही प्रिय है—यदि ऐसा मानें तो इन्द्रिय विषय आदि में इस लक्षण का व्यभिचार होगा, क्योंकि इन्द्रिय आदि भी सुख की उत्पत्ति के कारण हैं, यदि कहो कि इन्द्रियआदि भी प्रिय रहें इसमें हमारी क्या हानि है? तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है कि एक "आत्मा ही प्रिय है।"

प्रार्थनीयं ममास्त्वेत दिति यन्नोपसर्जनम्।
तत्प्रियं पण्डितैः प्रोक्तं नेन्द्रियादि च तादृशम्॥

मेरी यह अभिलषित वस्तु मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार जिस वस्तु की दूसरे के लिये अभिलाषा नहीं की जाती, पण्डित लोग उसी वस्तु को प्रिय मानते हैं। इन्द्रियादि पदार्थों की अभिलाषा अपने आत्मा के लिये ही है अतः परार्थ होनेसे इन्द्रिय आदि प्रिय नहीं हैं किन्तु आत्मा ही प्रिय है।

वस्तुतो विषयोद्भूतं यत्सुखत्वेन सम्मतम्।
तदप्यस्ति न पूर्वोक्त प्रियलक्षणलक्षितम्॥

यदि कहो कि माला चन्दन स्त्री आदिके भोग से जो सुख होता है वही हमको प्रियरूप से इष्ट है, तो यह भी ठीक

नहीं क्योंकि विषयजन्य सुख भी अपने लिये वाञ्छित होने के कारण परार्थ ही हैं, इस लिये पण्डित लोग उन्हें भी प्रिय नहीं मानते ।

ममास्त्वित्यनुकूलत्व वेद्यं यद्यपि यत्सुखं ।
न तथाप्यात्मशेषत्वा दनन्यार्थतया मतम् ॥

यदि ऐसा मानो कि अमुक वस्तु मुझे सदा प्राप्त होती रहे, क्योंकि वह मुझे अनुकूल है—ऐसी अनुकूलताबुद्धि जिस में हो वही वस्तु प्रिय है, तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि वह वस्तु भी आत्मा के लिये अनुकूल होने से परार्थ (अप्रधान) हो गई, अतः वह भी प्रिय नहीं रही ।

अनुपाध्यनुकूलत्व वेद्यं यत्तत्सुखं मतम् ।
इति यत्तार्किकैः प्रोक्तं तदात्मन्येव युज्यते ॥

और जो तार्किक लोग ऐसा कहते हैं कि "जो वस्तु किसी दूसरे के लिये नहीं हो और उसमें अनुकूलताबुद्धि हो वही सुखरूप है, वही प्रिय है" तब तो ऐसा सुख तथा ऐसी प्रियता हम को भी अङ्गीकार है क्योंकि ऐसी प्रियता केवल आत्मा में ही है, आत्मा से भिन्न ब्रह्मलोक-पर्य्यन्त अन्य किसी पदार्थ में वह प्रियता नहीं है, क्योंकि वे सब पदार्थ आत्मा के लिये ही होने के कारण अप्रधान हैं ।

न द्वितीयः किमत्रेष्ट माश्रयत्वमितीर्यताम् ।
यद्युपादानता तत्स्या दात्मनः परिणामिता ॥
तथा चानित्यतापि स्या त्तथा स्वर्गादिभुक् तु कः ।

यदि सुख के आश्रय को ही प्रिय कहो तो भी युक्त नहीं क्योंकि यदि सुख को उपादान कारण को ही प्रिय मानें तो ऐसा मानना ठीक नहीं, यतः आत्मा को सुख का उपादान कारण मानने से आत्मा परिणामी हो जायगा, जैसे मट्टी घटका या तन्तु पट के उपादान कारण होने से परिणामी हैं। और परिणामी होने से आत्मा अनित्य ही होगा, ऐसी दशा में स्वर्गादि सुख को कौन भोगेगा ?

बदरस्य यथा कुण्डं तथात्मा चेत्सुखाश्रयः ॥
तदुपादानमन्यत्र त्वत्सिद्धान्ते निरीक्ष्यते ।
अनेनैव तृतीयोपि पक्षोऽपास्त इतीष्यताम् ॥

जैसे बेरों का आधार पात्र है, ऐसे ही आत्मा सुख का आधार है—ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि तुम्हारे (नैयायिक आदिके) मत में "आत्मा ही सुख का उपादान कारण है"—इस सिद्धान्त की हानि होगी। अतः आधाररूप सुखाश्रयता भी प्रियता का लक्षण नहीं कह सकते। यदि कहो कि जो सुख के प्रकाश का कारण है वही प्रिय है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि आत्मा सुख का प्रकाशक होगा तो उस सुख को आत्मा से भिन्न और उसकी अपेक्षा अप्रधान मानना पड़ेगा, अतः उसमें पूर्वोक्त प्रियतारूप प्रधानता नहीं रहेगी।

चतुर्थे तु सुखात्मत्वं प्रियत्वं प्रत्यगात्मनः ।
तथा सति न काचित्स्यात् क्षतिः कस्यापि वादिनः ॥

प्रत्यगात्मा ही ज्ञान तथा सुखरूप है और वही प्रिय है, यदि ऐसा मानो तो इस पक्ष में किसी प्रकार का भी दोष नहीं आता, अतः आत्मा ही सच्चिदानन्द रूप है ।

इत्यात्मानन्दरूपत्वे सङ्क्षेपाद्युक्तिरीरिता ।
अत आत्मसुखप्रीता सुखं विषयजं त्यज ॥

हे चित्तवृत्ते ! आत्मा ही परमानन्दरूप है, इस विषय में मैंने सङ्क्षेप से तेरे प्रति युक्ति का निरूपण किया, इस लिये तू आत्मसुख से प्रसन्न होकर विषयों से उत्पन्न होने वाले सुखों को परित्याग कर दे ।

इति तृतीयः कवलः ।



ॐ

अथ चतुर्थः कवलः ।

तृतीय कवल में श्रुति तथा युक्ति से आत्मा की आनन्द-रूपता का निरूपण कर के अब प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं, क्योंकि जब तक प्रपञ्च में मिथ्यात्व-बुद्धि न होगी तब तक तत्त्यागपूर्वक आत्मा के विषय में इच्छा उत्पन्न न होगी। और जगत् में मिथ्यात्वबुद्धि, अखण्ड एकरस अद्वैत आत्मनिश्चय में भी अत्यन्त अपेक्षित है, अतोऽपि प्रपञ्च-मिथ्यात्वनिरूपण अत्यन्त उपयोगी है।

इत्थं विवेकाश्रमशीतरश्मि वाक्चन्द्रिकाचर्चिततुष्टचित्ता।
निजानुजं सा किल चित्तवृत्तिः पुनर्बभाषे परपुष्टभाषा॥

विवेकाश्रमरूप चन्द्रमा की वाणीरूप चांदनी से सुप्रसन्न चित्त होकर कोकिल के समान आलाप वाली चित्तवृत्ति अपने छोटे भाई से इस प्रकार बोली।

भ्रातर्विवेकाश्रम सम्यगुक्तं प्रतीच आनन्दमहोमयत्वम्।
प्रष्टुं यदिच्छाम्यधुनाऽपि किञ्चित् तदुत्तरं प्रीतमना विधेहि॥

हे भाई! आपने प्रत्यक् आत्मा की आनन्दता तथा स्व-प्रकाशता को अच्छे प्रकार वर्णन किया और अब जो मैं पूछती हूं, उसका भी उत्तर प्रसन्नचित्त हो कर दो।

त्वया यदुक्तं विषयप्रसूतं सुखं त्यजेत्यत्र न हेतुरस्ति।
किं सार्वभौमोऽपि महाविभूति स्त्यजत्यलं खेटकलोमकादि॥

आपने जो यह कहा कि "विषयजन्यसुख को छोड़ दे"—इसका कोई कारण नहीं बताया ! क्या महैश्वर्य्य-सम्पन्न सार्वभौम राजा शिकार में मिले हुए लोमड़ी आदि क्षुद्रपशुओं को कभी छोड़ देता है ?

ततश्चिदानन्दपरिप्लुताऽपि त्यक्ष्यामि तोषान् विषयोद्भवान्न।
कःपण्डितोऽप्यङ्ग विवर्धमाने निजास्पदे श्रेयसि तृप्तिमेति ॥

अतः चिदानन्द से तृप्त हुई भी विषयजन्य सुखों को मैं न छोडूंगी, अङ्ग ! अपने बढ़ते हुए सुखविशेष में कौन पण्डित सन्तोष को प्राप्त होता है ?

"अङ्ग"—सम्बोधनद्योतक अव्यय है ।

संवर्धिताहं विषयोत्थतोषैः प्राप्ता चिदानन्दकथामिदानीम् ।
त्यक्ष्यामि चेत्तान्महतागसा तद्भस्मीभविष्यामि निमेषमात्रात् ॥

विषयजन्य सुखों ने ही मुझे पालपोस कर बड़ा किया और उन्हीं की कृपा से मैं चिदानन्द की कथा सुनने योग्य हुई, हे तात ! यदि अब मैं विषयों को छोड़ दूँगी तो क्षण भर में अकृतज्ञतारूप महापाप से भस्म हो जाऊँगी ।

यःपालितो येन सताऽसता वा स तं परित्यज्य विनाऽपराधम् ।
श्रयेत् समृद्धं रचयेद्विरुद्धं गच्छेत्स विध्वंसमसाहसेन ॥

जिस सत्पुरुष या असत्पुरुष ने जिस पुरुष का पालन पोषण किया है, वह पालित पुरुष किसी अपराध के बिना स्वपालनकर्त्ता को छोड़ कर यदि किसी अन्य धनी पुरुष की शरण में चला जाय और पूर्वस्वामी के विरुद्ध आचरण करे तो निश्चय-पूर्वक वह पुरुष विनाश को प्राप्त होता है ।

शब्दादिजन्येषु सुखेषु तस्मा द्धेयत्वहेतुं वद कोविदोऽसि ।
विना न हेतुं विषयोत्थतोष त्यागं करिष्यामि भवद्वचोभिः ॥

तुम पण्डित हो इस लिये शब्द आदि से जन्य सुखों के त्यागने में कोई कारण बताओ, बिना हेतु के केवल तुम्हारी बातों से विषयजेन्य सुखों का त्याग नहीं करूँगी ।

इति चित्तवृत्तिमविनीतवचो विषवल्लरीं विषयसङ्गवतीम् ।
स निरीक्ष्य भिक्षुरथ मञ्जु जगौ जगदान्ध्यनाशजनकं वचनम् ॥

इस प्रकार विषयासक्त तथा असभ्य वचनरूप विष की लतारूप उस चित्तवृत्ति को देख कर वह भिक्षु, जगद्रूप अन्धकार के नाश करने वाले वचनों को सुन्दरतापूर्वक कहने लगा ।

विषयाणां तन्वि तत्त्वं पूर्वमेव निरूपितम् ।
तेषां पुनः पक्षपाता द्विस्मृत्याद्य विपृच्छसि ॥

हे सुन्दरि ! यद्यपि विषयों के तत्त्व को मैं पहले ही निरूपण कर चुका हूँ, तथापि उनमें दृढ़प्रेम होने के कारण उस विषयतत्त्व को भूल कर तू फिर वही पूछती है ।

स्वप्नोपलब्धराज्येन रङ्कोऽपि न हि तुष्यति ।
किं पुनः प्राप्तसाम्राज्यः परमार्थत एव यः ॥

स्वप्न में मिले हुए राज्य से दरिद्र को भी सन्तोष नहीं होता फिर जिसे परमार्थ से साम्राज्य प्राप्त है वह भला स्वप्न के राज्य से कैसे सन्तुष्ट होगा ?

सम्राट् श्रेयोऽन्यदन्विच्छेद्द यदि तत्पारमार्थिकम् ।
स्वल्पं वा बहु वा स्वाप्न श्रेयसे तु न सज्जते ॥

चक्रवर्त्ती राजा, राजसुख से अन्य थोड़े या बहुत सुख की कामना तो तब करे यदि वह सुख सत्य हो। स्वप्न में होने वाले मिथ्या विषय-सुखों में वह कैसे आसक्त हो सकता है?

संवर्धितो राजपुत्रो वने भिल्लेन केनचित्।
न त्वं भिल्लो राजपुत्र इत्याप्तेन प्रबोधितः॥
सद्यस्त्यक्त्वा भिल्लधर्म्मं राजधर्म्मान् समाचरन्।
केनागसा चित्तवृत्ते! भण भस्मीभविष्यति॥

हे चित्तवृत्ते! यदि जङ्गल में किसी भील से पालन पोषण किया गया राजपुत्र किसी आप्त पुरुष से यह सुन कर कि "तू भील नहीं है किन्तु राजपुत्र है।" शीघ्र ही भीलों के व्यवहारों का त्याग कर राजधर्म्मों का आचरण करने लगे तो यह बता कि वह राजपुत्र कौन से अपराध से भस्म हो जायगा?

विमूढो राज्यमुत्सृज्य स्वाप्नराज्योपलब्धये।
निद्रां कर्तुं यथा याति वनं वर्जितसज्जनम्॥
स्वकरस्थितमप्यात्मानन्दमुत्सृज्य भामिनि!
प्रवृत्ताऽसि भ्रमात्सिद्धं भोक्तुं विषयजं सुखम्॥

जैसे कोई महामूर्ख राज्य को छोड़ कर स्वप्न के राज्य की प्राप्ति के लिये सज्जनों से रहित जङ्गल में शयन करने के लिये जाता हो वैसे ही, हे भामिनि! स्वहस्तस्थित आत्मानन्द को छोड़ कर भ्रान्तिसिद्ध विषयसुखों के भोगने में तू प्रवृत्त हो रही है।

विषयास्तावदत्र स्यु र्यद्यमी पारमार्थिकाः ।
तत्तज्जन्यसुखप्राप्ति लम्पटं को निवारयेत् ॥

यदि ये विषय विचारदृष्टि से सत्य हों तो उनसे होने वाले सुखों में आसक्त पुरुषों को कौन निषेध करे ?

यः सर्पे स्रग्भ्रमोपेत स्तद्गन्धायाभिधावति ।
हस्ते सत्यस्रजं हित्वा स किं सुखमवाप्स्यति ॥

जो पुरुष स्वहस्तस्थित सच्ची पुष्पमाला को छोड़कर और सर्प में पुष्पमाला की भ्रान्ति से युक्त होकर उस काल्पित पुष्पमाला की गन्ध के लिये दौड़ता है, क्या वह सुख को पायगा ?

विषयाणां भ्रमोत्थत्वं श्रुतिरेवाह शोभने ।
काशयन्ती ममैवार्थं वक्ष्यमाणं मयाऽधुना ॥

हे सुन्दरि ! "विषयों की उत्पत्ति भ्रम से है"—इस मेरे अभिप्राय को श्रुति भी कथन करती है, उसे मैं अब कहता हूँ।

यत्र द्वैतमिवाभाति तत्रान्योऽन्यद्विजिघ्रति ।
अन्योन्यं पश्यति तथा शृणोत्यन्योन्यदन्तिके ॥
अन्योऽन्यच्चाभिवदति मनुतेऽन्योन्यदीप्सितम् ।
विजानाति तथाऽन्योन्य दितिव्यवहृतिः किल ॥

जहां द्वैत सा प्रतीत होता है वहीं एक दूसरे को सूंघता है, अन्य अन्य को देखता है, एक दूसरे को सुनता है, अन्य अन्य से बोलता है, अन्य अन्य के अभिप्राय को समझता है और एक दूसरे को विशेषरूप से जानता है—इस प्रकार का व्यवहार होता है ।

यदात्मैवाभवत्सर्वं मुदिते ज्ञानभास्करे ।
तदा तु केन कं जिघ्रेत पश्येत्तद्वच केन कम् ॥
शृणुयात् केन कं तत्रा भिवदेदपि केन कम् ।
मन्वीत केन कं तद्व द्विजानीयाच्च केन कम् ॥

जब ज्ञानरूप सूर्य्य के उदय हो जाने से सब संसार आत्मरूप ही हो गया तब कौन किसे सूंघे, किसको किससे देखे, किसे किससे सुने, किसको किससे बोले, किससे किस वस्तु का मनन करे और किससे किसे समझे । अर्थात् अभेद-ज्ञानप्रयुक्त द्रष्टा, दृश्य और दर्शनसाधन रूप भेद के अभाव में भेदप्रयुक्त दर्शन आदि लोकव्यवहार नहीं हो सकता ।

सर्वं येन विजानाति विजानीयात्तु केन तम् ।
विज्ञातारमिमं केन विजानीयान्मनागिति ॥

"पुरुष जिस आत्मा के अनुग्रह से सब वस्तुओं को विशेषरूप से जानता है, उस आत्मा को किससे जाने ?" "इस विज्ञाता को किससे जाने ?" आत्मा से भिन्न तो कोई विज्ञाता ही नहीं है जो उसे जाने ! अर्थात् वह अपने आप को स्वयं ही अनुभव करता है ।

स एव नेति नेत्यात्मा योऽग्राह्यो नहि गृह्यते ।
अशीर्यः शीर्यते नाय मसङ्गो नहि सज्जते ॥
सितो न व्यथते नैव रिष्यते प्रबलैरपि ।

वही "नेति नेति" आत्मा है । वह "अग्राह्य" है क्योंकि ग्रहण नहीं किया जा सकता, "अशीर्य्य" (अविनाशी) है

क्योंकि उसका नाश नहीं हो सकता, "असङ्ग" है क्योंकि उसका किसी से सम्बन्ध नहीं है, वह "बद्ध" नहीं है क्योंकि पीड़ा को प्राप्त नहीं होता, महाबलवान् प्राणी भी उसका हनन नहीं कर सकते हैं।

परादाद्ब्रह्म तं योन्य त्रात्मनो ब्रह्म वेद तु ॥
क्षत्रं परादात्तं वेद योन्यत्र क्षत्रमात्मनः ।
लोकाः परादुस्तं लोकान् योवेदान्यत्र चात्मनः ॥
देवा वेदाश्च भूतानि तं परादुरसंशयम् ।
आत्मनोऽन्यत्र यो देवान् वेदान् भूतानि वेद वा ॥
सर्वं परादाद्योन्यत्रा त्मनो वेदाखिलं पुमान् ।
इदं ब्रह्म क्षत्रमिद मिमे लोका इमे सुराः ॥
इमे वेदास्तथेमानि भूतानीदं तथाखिलम् ।
यत्किञ्चित्तद्विजानीया दयमात्मेति कोविदः ॥

जो पुरुष ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न समझता है, ब्राह्मण जाति उसका निरादर करती है। जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न मानता है, क्षत्रिय जाति उसका तिरस्कार करती है। सूर्य्य आदि लोक उसका निरादर करते हैं जो लोकों को आत्मा से भिन्न जानता है। देवता, वेद और आकाश आदि भूत उसका निरादर करते हैं जो उन्हें आत्मा से भिन्न समझता है। संसार उसका तिरस्कार करता है जो समस्त संसार को आत्मा से पृथक् देखता है। अतः यह ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जाति, यह लोक,

यह देवता, यह वेद तथा ये आकाश आदि भूत और यह जितना भी संसार है, पण्डित इन सब को आत्मरूप ही समझें।

सद्देव सोम्येदमग्र आसीदेकलमद्वयम् ।
इति च श्रुतिरन्याह नेह नानास्ति किञ्चन ॥

हे सोम्य ! सृष्टि की उत्पत्ति के पहले यह जगत् अकेला अद्वय "सत्" ही था तथा "इस ब्रह्म में नाना कुछ नहीं है"— यह दोनों श्रुतियां नानात्व का निषेध और सद्रूप आत्मा का प्रतिपादन करती हैं।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यो नानेवेह पश्यति ।
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं सत्यमात्मैव केवलम् ॥

जो इस ब्रह्म में नानात्वबुद्धि करता है वह "मृत्यु पर मृत्यु को प्राप्त होता है", 'यह सब संसार इस आत्मा की सत्ता से ही सत्ता वाला है' और 'वह आत्मा ही केवल सत्य वस्तु है।'

इत्याद्यभिवदन्त्यो हि शतशोथ सहस्रशः ।
श्रुतयः सन्ति वामोरु ! जगन्मिथ्यात्वबोधने ॥

हे सुन्दरि ! ऐसी सैकड़ों और सहस्रों श्रुतियाँ हैं जो जगत् के मिथ्यात्व को बोधन करती हैं।

तस्माज्ज्ञात्वा जगत्सर्वं मृगतृष्णाजलोपमम् ।
सच्चिदानन्दमात्मानं श्रयान्तरायवर्जितम् ॥

इस लिये सब जगत् को मृगतृष्णाजल के समान जान कर विघ्नरहित सच्चिदानन्द आत्मा का आश्रय ले।

सर्वं जगदिदं भाति गन्धर्वनगरोपमम् ।
आत्मसौधं परित्यज्य तत्सौधानि किमिच्छसि ॥

यह सब जगत् गन्धर्वनगर के समान है, तू आत्मरूप राजभवन को छोड़ कर गन्धर्वनगर के भवनों की कामना क्यों करती है ?

महामरुभूमि में जो मिथ्यानगर प्रतीत होता है उसी को गन्धर्वनगर कहते हैं ।

ताडिता पुच्छविकला कृन्तकर्णा स्खलद्गतिः ।
सरमा चरमावस्थां प्राप्ताप्युज्झति न भ्रमम् ॥
यथा तथा क्वचिच्छिन्ना क्वचिद्भिन्ना क्वचिद्धता ।
चित्तवृत्ते त्यजस्येनं विषयेषु भ्रमं नहि ॥

जैसे कटी हुई पूँछ वाली, कटे कानों वाली और लड़खड़ाती चाल वाली बूढ़ी कुतिया ताड़न की हुई भी घूमना नहीं छोड़ती, ऐसे ही हे चित्तवृत्ते ! कहीं काटी गई, कही फाड़ी गई, कहीं पीटी गई तू विषयभ्रम को नहीं छोड़ती है ।

वारितापि मुहुर्भ्रान्त्वा भजते मक्षिका व्रतम् ।
चित्तवृत्ते त्यजस्येनं विषयेषु भ्रमं नहि ॥

जैसे मक्खी बार बार हटाई जाने पर भी फिर उसी घाव पर आ बैठती है, ऐसे ही हे चित्तवृत्ते ! तू भी इन विषयों में भटकना नहीं त्यागती है ।

अज्ञानमात्रपरिकल्पितमाकलय्य
विश्वं चिदात्मनि भुजङ्गमिव स्रजीदम् ।
भीतां जवेन भ्रमतीमिह चित्तवृत्ते
तत्त्यागतोऽप्युपहसिष्यति नैव लोकः ॥

हे चित्तवृत्ते ! माला में सर्प की भ्रान्ति के समान चिदात्मा में अज्ञानमात्र से कल्पित इस संसार को सत्य समझ कर तेरे डरने तथा भागने पर लोग जैसी तेरी हँसी करते हैं, वैसी हँसी जगत् को त्याग देने पर नहीं होगी ।

अज्ञानसम्भवमिदं जगदित्यवेहि
नास्यापरं किमपि कारणमस्ति सत्यम् ।
सत्ये हि शुक्तिशकले स्फुरतोऽपरोक्षं
रूप्यस्य कान्वनवबोधमपास्य हेतुः ॥

यह जगत् अज्ञान से उत्पन्न हुआ है—ऐसा जानो, इस का कारण अन्य कोई सत्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि सीप के टुकड़ों में स्पष्ट स्फुरण होते हुए रूप का कारण अज्ञान के बिना और क्या हो सकता है ?

सत्यादिदं यदि भवेन्न भवेन्मृषा त–
न्मिथ्यात्वमस्य सुभगेऽनुभवानुसारि ।
न ह्यद्य यद्भवति तच्छ्व इति प्रसिद्ध–
मास्थां ततः परिहरात्र विनाशशीले ॥

यदि यह संसार सत्य से उत्पन्न हुआ होता तो मिथ्या न होता, हे सुभगे ! इस संसार का मिथ्यात्व अनुभव से ही जाना जाता है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो आज है वह कल नहीं रहता है, अतः इस नाशवान् संसार का भरोसा मत कर ।

नोत्पद्यते न लयमेति विवर्द्धते च
न चीयते न चलति क्वचिदेष आत्मा ।

पूर्वो न नो परतया प्रथितो न बाह्यो
नैवान्तरः सकलदृक् श्रुतिशेषसिद्धः ॥

यह आत्मा न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, न बढ़ता है, न घटता है और न चलता है। न पूर्व है न पर है, न बाहर है न अन्दर है किन्तु सब का द्रष्टा है, तथा वेदान्तों द्वारा ही जाना जाता है।

उच्चावचान्यनुभवन्प्रतिबिम्बभूता-
न्यालक्ष्यते उपचयापचयादिमान् वा।
तस्मादिदं सुखचिदेकरसं विबोध-
मासाद्य शोकरहिता भव चित्तवृत्ते ॥

देव मनुष्य कीट आदि उत्तम मध्यम तथा अधम योनियों में अज्ञान से तादात्म्य-अध्यास के कारण आत्मा ऊंच नीच-भाव को प्राप्त हुआ सा प्रतीत हो रहा है, अतः हे चित्तवृत्ते! तू सुख, चित्, एकरस, विज्ञानस्वरूप आत्मा को जान कर शोक से विमुक्त हो जा।

चित्तवृत्तिरिति भ्रात्रा निजेन प्रतिबोधिता।
विषयेभ्यो रतिं सद्यो निश्चकर्षात्मना किल ॥

इस प्रकार अपने भाई से समझाई गई वह चित्तवृत्ति विषयों से उपरत हो गई।

नलिनीमिव तोयेभ्यः संमग्नां करिगेहिनी।
विषयेभ्यो बहिश्चक्रे चित्तवृत्ती रतिं निजाम् ॥

जैसे जल में डूबी हुई कमलिनी को हथिनी बाहर निकाल

जाती है, ऐसे ही चित्तवृत्ति ने विषयों से अपनी प्रीति को हटा लिया ।

सा तदा तत्परं ज्योति र्दधाना विषयोज्झिता ।
अन्तर्दीपा बभौ काच कूपकेव गतावृतिः ॥

उस समय विषयों से रहित वह चित्तवृत्ति उस आत्म-ज्योतिः को धारण किये हुए ऐसी सुशोभित होने लगी जैसे अन्तःस्थित दीपक वाली कांच की स्वच्छ हँडिया शोभा को प्राप्त होती है ।

अस्मिन्नवसरे दत्ता मुमुक्षाभ्येत्य योगिनम् ।
वैराग्यतीर्थमायान्तं नातिदूरे न्यवेदयत् ॥

उसी समय मुमुक्षा नाम वाली चतुर तापसी ने आ कर निवेदन किया कि वैराग्यतीर्थ योगी निकट ही आ रहे हैं ।

तां विवेकाश्रमः क्षामां मुमुक्षां वीक्ष्य तापसीम् ।
सुप्रसन्नमनाः प्राह भद्रेऽत्रोपविशेत्यलम् ॥

उस अतिदुर्बल मुमुक्षा तापसी को देख कर विवेकाश्रम प्रसन्नमन हो कर बोला, हे भद्रे ! बैठ कर आप इस स्थान को सुभूषित करिये ।

पाञ्चजन्ये मठेऽस्माकं यतो भीत्यानवस्थितिः ।
चित्तवृत्तिरियं सा सु प्रसन्ना विहिता मया ॥

जिस के भय से हम पाञ्चजन्य मठ में शान्ति से निवास नहीं कर सकते थे उस सुन्दर भौंहों वाली चित्तवृत्ति को मैंने अच्छे प्रकार प्रसन्न कर लिया है !

चित्तवृत्तिरथोत्थाय श्रुतपूर्वां तु तापसीम् ।
ननाम दण्डवद्भूमौ परित्यज्य स्वदुष्टताम् ॥

हे मुमुक्षे तपस्विनि ! अब यह निर्मल चित्तवृत्ति तेरे मनोरथों को पूर्ण करेगी, इसके अनन्तर चित्तवृत्ति ने अपनी दुष्टता को छोड़ कर पूर्व सुनी हुई तापसी को खड़े हो कर और फिर भूमि पर पड़ कर दण्डवत् प्रणाम किया ।

मुमुक्षालक्ष्य तां स्वच्छां प्रसन्नवदनाम्बुजाम् ।
परमात्मप्रसादस्ते भवत्वित्याशिषं जगौ ॥

तपस्विनी मुमुक्षा ने उस प्रसन्न–मुखकमल स्वच्छ चित्तवृत्ति को देख कर "तुझ पर परमात्मा प्रसन्न हो" ऐसा आशीर्वाद दिया ।

वैराग्यतीर्थसन्न्यासी विवेकाश्रमतोऽवरः ।
मठं प्राप पाञ्चजन्यं त्यक्तदण्डो दिगम्बरः ॥

इतने ही में विवेकाश्रम से छोटा वैराग्यतीर्थ संन्यासी भी उस पाञ्चजन्य मठ में आ पहुँचा, जो दण्ड को त्याग किये हुए था और दिगम्बर था ।

बाहूपबर्हणो भूमि मञ्चकः पाणिपात्रभुक् ।
अपादुको गुहागेहो जलाशयकमण्डलुः ॥

बाहु ही उसका तकिया था, भूमि ही पलँग था, हाथ रूप पात्र में खाता था, पांव में पादुका नहीं थीं, गुहा ही उसका घर था और जलाशय ही उसका कमण्डलु था ।

विचरन् पृथिवीमेतां जडोन्मत्तपिशाचवत् ।
अयाचितयथाप्राप्ता हारः कारकतोज्झितः ॥

पृथिवी पर मूर्ख, पागल तथा पिशाच के समान विचरता था, बिना माँगे ही जैसा आहार मिल जाता था वैसा ही खा लेता था और सर्व कर्मों से रहित था ।

दधानोऽन्तः परं ज्योति बहिर्धूलिविधूसरः ।
विवेकाश्रममानम्यो २ पविवेश तदाज्ञया ॥

मन में परमज्योतिः को धारण किये हुए था, बाहर धूली रमाये हुए था । विवेकाश्रमको प्रणाम करके तथा उसकी आज्ञा पा कर बैठ गया ।

विवेकाश्रम आहैनं भिक्षो दण्डकमण्डलू ।
कौपीनाच्छादनं वासः कन्थां किं त्यक्तवानसि ॥

विवेकाश्रम ने उससे पूछा, हे भिक्षो ! तू ने दण्ड, कमण्डलु, कौपीन अँगोछा, कटिवस्त्र और गुदड़ी को क्यों छोड़ दिया है ?

इत्थं पृष्टः स तेनाह विवेकाश्रम शृण्वतः ।
परहंसोपनिषद स्तात्पर्य्यं कथयाम्यहम् ॥

इस प्रकार पूछे जाने पर वह बोला, हे विवेकाश्रम ! सुनो, मैं परमहंस "उपनिषद्" का तात्पर्य्य कहता हूँ ।

देवर्षिर्नारदोऽभ्येत्य देवं नारायणं विभुम् ।
पप्रच्छोत्कण्ठया वाचा प्राञ्जलिः प्रश्रयान्वितः॥

देवर्षि नारद ने प्रकाशस्वरूप सर्वव्यापक श्रीनारायण भगवान् के पास पहुँचकर विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर बड़ी उत्कण्ठायुक्त वाणी से पूछा ।

भगवन् परहंसानां को मार्गः का परा स्थितिः।
एतद्विज्ञातुमिच्छामि ततो मेऽनुग्रहं कुरु॥

हे भगवन्! परमहंसों का क्या मार्ग है और उनकी स्थिति कैसी है? मैं उसे जानना चाहता हूं, अतः मुझपर अनुग्रह करो।

देवर्षिणैवं भगवान् प्रार्थितो भक्तवत्सलः।
मार्गं तावदुवाचोच्चै र्मेघगम्भीरया गिरा॥

इस प्रकार देवर्षि के प्रार्थना करने पर भक्तवत्सल भगवान् मेघ के समान गम्भीर वाणी से प्रथम परमहंसों के मार्ग का निरूपण करने लगे।

इदं परमहंसानां मार्गं लोकेऽतिदुर्लभम्।
वक्ष्यमाणं मया तेन यो गच्छेत्सोपि दुर्लभः॥
स एव नित्यमुक्तिस्थः स एव श्रुतिशोषवित्।
विद्वांस इति मन्यन्ते स एव पुरुषो महान्॥
सर्वदा मयि तच्चित्तं तच्चित्तेऽहं च सर्वदा।
असौ स्वमित्रपुत्रादि कलत्रभ्रातृबान्धवान्॥
शिखां यज्ञोपवीतं च यागान् स्वाध्यायमेव च।
ज्योतिष्टोमादिकर्माणि ब्रह्माण्डं च परित्यजेत्॥
कौपीनं वाससी दण्डं सव्यसेत्र कमण्डलुम्।
स्वशरीरस्य भोगाय नृलोकानुग्रहाय च॥

मैं परमहंसों के जिस मार्ग को कथन करूंगा, वह लोक में बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है और वह पुरुष भी दुर्लभ है जो इस मार्ग पर चलता है। वही नित्यमुक्त है, वही वेदा-

न्ववित् है और वही महापुरुष है, ऐसा विद्वान् मानते हैं। उसका चित्त सर्वदा मुझमें रहता है और मैं सदा उसके चित्त में वास करता हूँ, वह अपने मित्र पुत्रों आदि को, स्त्री भाई बन्धुओं को, शिखा और यज्ञोपवीत को, यागों और स्वाध्याय को ज्योतिष्टोम आदि कर्मों तथा ब्रह्माण्ड को त्याग देता है। वह कौपीन, धोती, गाती, दण्ड, कमण्डलु को अपने शरीर के भोग तथा लोकानुग्रह (लोकोपकार) के लिये नहीं छोड़ता है।

मार्गोयं परहंसानां न मुख्यः परिकीर्त्तितः ।
मुख्या तु निष्ठा हंसानां शृणु तां नारदाधुना ॥

हे नारद ! परमहंसों का यह मुख्य मार्ग नहीं है, उनकी तो निष्ठा ही मुख्य है, अब उसे सुनो ।

तेषां न दण्डं न शिखा न सूत्रं नापि वाससी ।
न पादुके नाम्बुपात्रं न कन्था न निवासभूः ॥
न शीतं यत्र नोष्णं च न सुखं दुःखमेव च ।
न मानो नापमानश्च नोर्मयो यत्स्पृशन्त्यमी ॥

उनके लिये न दण्ड है, न शिखा, न सूत्र, न धोती, न गाती, न खड़ांव, न कमण्डलु, न कन्था और न निवासभूमि है। जिन्हें न शीत है न उष्ण न सुख है न दुःख, न मान है न अपमान तथा छ ऊर्मियां भी जिनको स्पर्श नहीं करती हैं।

शब्दस्पर्शरूपरस गन्धानपि स्मरन्ति न ।
निन्दागर्वपरासूया दम्भद्वेषादिवर्जिताः ॥

वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का स्मरण नहीं

करते और निन्दा, गर्व, दूसरे के गुणों में दोषबुद्धि, दम्भ, तथा द्वेष आदि से दूर रहते हैं।

दर्पकामक्रोधलोभ मोहाहङ्कारवर्जिताः।
शरीरं शववत्स्वीयं पश्यन्तः शोकवर्जिताः॥

दर्प, काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहङ्कार से रहित हो कर तथा अपने शरीर को मृतक-शरीर के तुल्य देखते हुए शोक से रहित हो कर विचरते हैं।

एतच्छरीराभिमान त्यागाच्चिद्रूप आत्मनि।
अज्ञानसंशयभ्रान्ति हेत्वज्ञानविवर्जिताः॥
नित्यमुक्ता अतोयेऽस्मिन् विचरन्ति महीतले।
ते हंसाः परमा ज्ञेया स्तेषां निष्ठेयमीदृशी॥

इस शरीर के अभिमान को छोड़कर, चिद्रूप आत्मा के विषय में होने वाले अज्ञान (वासना), संशय और भ्रान्ति के के कारण अज्ञान से रहित तथा नित्य मुक्त होकर जो इस भूमि पर विचरते हैं, उन्हीं को परमहंस जानना चाहिए और उन्हीं की ऐसी निष्ठा होती है।

शान्ताचलाद्वयानन्द विज्ञानघन एव यः।
स आत्मा मे परं धाम तत्सूत्रं सा शिखा मता॥

जो शान्त, अचल, अद्वय, आनन्द और विज्ञानघन आत्मा है वही मेरा परम धाम है, वही सूत्र है तथा उसे ही शिखा मानता हूं।

परमात्मात्मनोरैक्य ज्ञानमेव ममासनम्।
अज्ञानतत्कृतभेद नाशः सन्ध्या मता मम॥

परमात्मा तथा आत्मा का ऐक्य-ज्ञान ही मेरा आसन है, अज्ञान और अज्ञानकृत भेद का नाश ही मेरी सन्ध्या है ।

सर्वान् कामान् परित्यज्या द्वैतब्रह्मात्मचिन्तनम् ।
अयमेव परो दण्डः पञ्चमुद्रासमन्वितः ॥

सब कामनाओं को छोड़कर अद्वैत ब्रह्मात्मा का चिन्तन ही मेरा पांच मुद्रायुक्त परम दण्ड है ।

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ॥
स याति नरकान् घोरान् महारौरवमेव च ।
इति श्रुतिः स्वयं प्राह ज्ञानदण्डस्ततो मम ॥

जिस पुरुष ने ज्ञानदण्ड को धारण किया है वही एक-दण्डी कहलाता है, और जिसने काष्ठदण्ड धारण किया है, वह ज्ञान से रहित सर्वान्नभक्षी भिक्षु घोर नरकों तथा महा-रौरव को प्राप्त होता है, यह ात श्रुति स्वयं कहती है, इसी कारण से मैंने ज्ञानरूप दण्ड को धारण किया है !

एवं योऽन्तर्ध्यानयुक्तः परमहंस ईरितः ।
नास्य कार्यं नमस्कारो न स्वधाकार एवच ॥

इस प्रकार जो ध्यान से युक्त रहता है वही "परमहंस" कहलाता है, उसके लिये न नमस्कार कर्त्तव्य है न पितृयाग ।

न श्रौषट् न वषट्कारो नावाहनविसर्जने ।
न मन्त्रं नापरं ध्यानं नान्योपासनमेव च ॥

उसके लिये श्रौषट्–वषट्काररूप देवयाग नहीं है, न

आवाहन, न विसर्जन, न मन्त्र, न कोई ध्यान और न किसी अन्य की उपासना ही कर्त्तव्य है ।

संग्रहो न सुवर्णादे र्न स्पर्शो नेच्छयेक्षणम् ।
बाधा हि नरकान्ता स्या देवं सति न संशयः ॥

उसको सुवर्ण आदि का संग्रह, स्पर्श और इच्छा से देखना निषिद्ध है, क्योंकि ऐसा करने से उसे नरकपर्यन्त बाधा होगी, इसमें संशय नहीं है ।

परहंसोपनिषद मेवमाह हरिः स्वयम् ।
देवर्षये नारदाय तस्मादेवंविधोस्म्यहम् ॥

इस परमहंसोपनिषद् को हरिभगवान् ने देवर्षि नारद के प्रति स्वयं कथन किया है—अतः इसी उपनिषद् के अनुसार मैंने दण्ड आदि का परित्याग किया है ।

चिदात्मनि जगन्नाथे आनन्दाब्धावनन्तिके ।
रममाणस्य किं मे स्या त्कन्थादण्डकरण्डकैः ॥

आनन्दसागर, अनन्त और जगत् के नाथ चिदात्मा में रमण करते हुए, कन्था दण्ड और कमण्डलु से मेरा क्या उपकार होगा ?

इति वैराग्यतीर्थस्य वच आकर्ण्य विस्मिता ।
पप्रच्छ चित्तवृत्तिस्तं विवेकाश्रममन्तिके ॥

वैराग्यतीर्थ के इन वचनों को सुन कर चित्तवृत्ति आश्चर्य को प्राप्त हो कर पास बैठे हुए विवेकाश्रम से पूछने लगी ।

भ्रातस्त्वया जीव एवा नन्दरूप उदाहृतः ।
विषयत्यागपूर्वं मे रतिं तत्रोक्तवानसि ॥

हे भ्रातः! तू ने जीव को ही आनन्दरूप बताया था और विषयत्यागपूर्वक उसमें प्रीति करने को कहा था।

अयं तु मस्करी वक्त्या नन्दतां परमेष्ठिनः।
इदानीमस्मि सन्देह दोलालोलामलाशया॥

परन्तु यह सन्न्यासी तो जगन्नाथ को ही आनन्दरूप बताता है, इस वचन को सुन कर मैं मलिन अन्त:करण वाली सन्देह में पड़ गई हूँ।

पिण्डं त्यक्त्वा करं लेढी त्याभाणक उपस्थितः।
यत्त्यक्त्वा विषयान् सर्वान् नोपादेयं निरीक्ष्यते॥

यह तो "लड्डू फैंक कर हाथ चाटने" की कहावत सिद्ध हो गई! क्योंकि सब विषयों को छोड़ कर कोई ग्रहण करने योग्य पदार्थ ही दिखाई नहीं देता!

क्वाबला मृदुलात्राहं का निष्ठा परमेष्ठिनि।
तपोभिर्दुष्करैरस्मि आस्थिताः कपिलादयः॥

कहां मैं कोमल अबला! और कहां परमात्मा में वह निष्ठा! जो कपिल आदि महर्षियों को भी दुष्कर तपों द्वारा प्राप्त हुई है!

किञ्चात्मनि जगत्सर्वं दृश्यतेऽज्ञानकल्पितम्।
इति त्वयोक्तं तत्रापि निश्चयो मे न जायते॥

और यह जो आपने कहा कि "यह सब जगत् आत्मा में अज्ञान से कल्पित है"—इसमें भी मुझे निश्चय नहीं होता।

जीवात्मनि जगत्सर्वं कल्पितं परमात्मनि।
आद्ये किं बहवो जीवाः किं तावन्ति जगन्त्यपि॥

यह सब जगत् जीवात्मा में कल्पित है या परमात्मा में ? यदि जीवात्मा में कल्पित है तो क्या जीव नाना हैं ? और जितने जीव हैं क्या उतने ही जगत् भी हैं ?

किञ्चेदं जगदेकं सत् सर्वजीवेषु कल्पितम् ।
द्वितीये ज्ञानहेतुत्वं जगतः कथ्यते कथम् ॥

या सब जीवों में एक ही जगत् कल्पित है ? और यदि परमात्मा में जगत् कल्पित है तो अज्ञान को उसका कारण कैसे कहते हो ?

न ह्यज्ञानं भवेदीशे सर्वज्ञे सर्वशक्तिके ।
तत्र कल्पयतोऽज्ञानं महान् दोषः प्रसज्यते ॥

क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा में अज्ञान नहीं हो सकता, परमात्मा में अज्ञान मानने से महादोष की प्राप्ति होगी ।

इत्यज्ञानां मतिः स्त्रीणां न विद्मो विदुषां कथम् ।
अजं गजं हि ते कुर्य्यु स्तर्ककर्कशबुद्धयः ॥

हम मूर्ख स्त्रियों की जब ऐसी मति है तो न जाने विद्वानों की कैसी होगी, क्योंकि तर्क–कर्कश–बुद्धि (तर्क से कठोर बुद्धिवाले) विद्वान् बकरी को हाथी सिद्ध कर देते हैं !!

भ्रातः प्रातः समुत्थाय कस्य चास्यं निरीक्षितम् ।
आनीतास्म्यद्य केनोच्चैः कर्मणेमं मठं प्रति ॥

हे भाई ! आज प्रातःकाल उठ कर मैंने किसका मुँह देखा ! और कौनसा उत्कट कर्म मुझे इस मठ में ले आया !

कथं दृष्टोऽयमद्यैव श्रुतः पूर्वं ममानुजः ।
वेपते मे मनस्तात भीमं दृष्ट्वा दिगम्बरम् ॥

मैंने जिसके विषय में पहले सुना था आज उसी मेरे छोटे भाई के दर्शन मुझे कैसे हुए ? तात ! इस भयानक दिगम्बर को देख कर मेरा हृदय कांपता है !

उरः शिरस्ताडयन्तीं नासिकानेत्रकुञ्चनैः ।
अग्रजामनुजः प्राह चित्तवृत्तिं यतीश्वरः ॥

तदनन्तर छाती और सिर को पीटती हुई तथा नाक और आंखों को सिकोड़ती हुई अपनी बड़ी बहिन चित्तवृत्ति को यतीश्वर बोला ।

उद्वेगं त्यज तन्वङ्गि तत्त्वोद्योगं हृदावह ।
तव संशयमुत्पन्नं कुर्वेऽनुत्पन्नसन्निभम् ॥

हे सूक्ष्माङ्गि ! भय को छोड़कर तत्त्व वस्तु को समझने के लिये हृदय से यत्न कर, तेरे संशय को न उत्पन्न हुए के समान मैं अभी कर देता हूं ।

आत्माज्ञानसमुत्थत्वं तावद्दृश्यस्य दृश्यते ।
आत्मबोधविनाश्यत्व मपि तस्यैव सम्मतम् ॥

जितना दृश्यरूप जगत् है वह आत्मा के अज्ञान से ही उत्पन्न हो रहा है और आत्मा के ज्ञान से ही इस दृश्य जगत् का विनाश भी सम्मत है ।

एकाकी पुरुषः शय्या मधिशेते यदा तदा ।
न रथास्तत्र वर्त्तन्ते रथयोगास्ततोपि च ॥

पुरुष जिस समय शय्या पर अकेला सोता है उस समय वहां न रथ होते हैं, न रथ के घोड़े और न रथ बनाने के साधन ही रहते हैं ।

न पन्थानो भवन्त्यत्रा थ रथान् पश्यतीप्सितान् ।
रथयोगान्पथश्चैत त्किं कार्यमिति चिन्तय ॥

तथा वहां न रास्ते रहते हैं, परन्तु रथ के घोड़े और मार्गों को देखता है, हे चित्तवृत्ते ! यहां इस बात का चिन्तन कर कि वे क्यों दिखाई देते हैं ?

उपलक्षणमेतच्च श्रुत्युक्तमिति कीर्तितम् ।
रङ्कः साम्राज्यमाधत्ते सम्राट् रङ्कत्वमेव च ॥

श्रुति में स्वप्नअवस्था के रथ घोड़े आदि का कथन उदाहरणमात्र है, स्वप्न में दरिद्र साम्राज्य को प्राप्त होता है और सम्राट् दरिद्रता को ।

निद्रितो दृश्यतेऽवन्त्यां समीपस्थैर्नरैर्नरः ।
स तु देहं समीपस्थं मेरोरुपरि पश्यति ॥

निद्रित पुरुष के पास रहने वाले पुरुष उसको उज्जैन में देखते हैं और वह सोया हुआ पुरुष निकट ही शय्या पर पड़े हुए स्वशरीर को (स्वप्न में) मेरु पर्वत पर देखता है !

मानुषेऽस्मिन् शरीरे ऽभिमानसम्पन्न एव सन् ।
न्यग्रोधो भूलोचितं कार्य्यं तद्देहस्य करोति च ॥

और इस मानुष शरीर में अभिमानयुक्त होता हुआ भी स्वप्न में सिंह बन कर सिंहशरीर से होने वाले कार्यों को करता है ।

सर्वं चैतच्चित्तवृत्ते त्वं विचारय तत्त्वतः।
अज्ञानस्य विलासोऽयं भवेद्वा न भवेदिति॥
यद्यज्ञानविलासोऽयं न स्यादन्यनिदानजः।
तत्त्वज्ञानापनोद्यत्वं तस्य स्यान्न कथञ्चन॥

हे चित्तवृत्ते! तू तत्त्वदृष्टि से इन सब वृत्तान्तों पर विचार कर, कि वह अज्ञान का विलास है या नहीं? स्वप्न यदि अज्ञान का विलास नहीं है तो इसका कारण कुछ और ही होगा, तब उस दशा में तत्त्वज्ञान से स्वप्न का किसी प्रकार भी नाश नहीं हो सकेगा।

स्वप्नोपमं सर्वमवेहि तस्मा ज्जगन्न गत्यन्तरमस्ति तत्र।
स्वप्ने मुहूर्त्तेऽब्दशतभ्रमेण चिरस्थितो वात्र चिरस्थितोन॥

जैसे एक मुहूर्तमात्र के स्वप्न में सौ वर्ष की भ्रान्ति से स्वप्न चिरस्थायी प्रतीत होता है ऐसे ही यह कल्पित जगत् भ्रान्ति से ही चिरस्थायी सा प्रतीत हो रहा है।

इति चतुर्थः कवलः।

—*—

ॐ

अथ पञ्चमः कवलः ।

अब इस पञ्चम कवल में स्थूणानिखनन-न्याय से तत् और त्वंपदार्थ-विचारपूर्वक महावाक्यार्थ का निरूपण करके मनुष्यजीवन का पर्यालोचन करते हुए, एवं वैराग्य तथा उपरति में "चित्तवृत्ति" की स्थापना करके पुरुषार्थप्राप्ति को दिखाते हुए ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं ।

चिद्रूपमस्तीति हि निर्विवादं जगत्प्रकाशेत कुतोऽन्यथेदम् ।
आत्मा तदेवेति तदाश्रयो वे त्येवं परं संशयमेति लोकः ॥

"ज्ञानरूप एक वस्तु है"—इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञानरूप वस्तु संसार में न हो तो यह जगत् प्रतीत कैसे हो ? परन्तु "वह ज्ञान ही आत्मा है या उस ज्ञान का आश्रय आत्मा है ?" ऐसा संशय लोगों को अवश्य होता है ।

आत्मा तदेवेत्यपि पक्ष आहुः किं तत्क्षणध्वंस्यथवास्तु नित्यम् ।
तत्स्थानमात्मेत्यपि पक्ष आहुरेकः स आत्मा घटतेथ नाना ॥

"ज्ञान ही आत्मा है" इस पक्ष में भी "क्या ज्ञानरूप आत्मा क्षण क्षण में नष्ट होने वाला है अथवा नित्य है" ऐसा संशय लोगों को होता है । और "ज्ञान का आश्रय आत्मा है"—इस पक्ष में "आत्मा एक है या अनेक ?" ऐसा विकल्प लोगों के मन में होता है ।

एवं विवादे सति सत्यनादौ तर्काङ्कुसंलालितलोकसिद्धे ।
वेदान्तकान्तोपवनप्रचारा इत्थं नरा निर्णयमाहुरत्र ॥

जो पुरुष आजन्म तर्क की गोद में पले हैं उन लोगों में उपर्युक्त यह अनादि विवाद सुप्रसिद्ध है । ऐसी दशा में वेदान्त के सुन्दर उपवन में विचरने वाले लोग इस विषय में वक्ष्यमाण प्रकार से निर्णय करते हैं ।

आत्मा तदेवेति मते प्रथन्ते विज्ञानमानन्दमिति श्रुतिर्या ।
प्रज्ञानशब्दं समुदीर्य्य याहं ब्रह्मेति तत्तत्प्रमुखा असंख्याः॥
चिदात्मभावे श्रुतयस्ततोऽयं पक्षस्तु तावच्छ्रुतिसिद्ध एव ।
युक्तिस्तु चित्त्वाच्चिदिहाश्रयाशां कुर्याद्गुणत्वादथवार्थरूपात्॥

"ज्ञान ही आत्मा है"—इस मत में "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, "प्रज्ञानं ब्रह्म", "अहं ब्रह्म" इत्यादि असंख्य श्रुतियां ज्ञान के आत्मरूप होने के विषय में प्रसिद्ध हैं, इस लिये यही पक्ष श्रुति से सिद्ध है । अब इस विषय में युक्ति कहते हैं, जो लोग आत्मा को ज्ञान का आश्रय मानते हैं हम उनसे पूछते हैं कि क्या चित् (ज्ञान) चिद्रूप होने के कारण आश्रय की अपेक्षा करती है या गुणरूप होने से, अथवा पदार्थरूप होने के कारण ?

आद्येऽनपाया चिदिहाश्रयाशां
कुर्यात्करोतीति हि नान्वयोस्ति ।
चिन्मात्रपक्षीकरणान्न मध्योऽ
सिद्धेर्गुणत्वस्य चिदाश्रयस्य ॥

"नित्या-चित् साश्रया चित्त्वात्=नित्या चित्, चिद्रूप होने से आश्रय की अपेक्षा रखती है"—इस न्यायप्रयोग में अन्वय-

दृष्टान्त नहीं है, यतः "जो जो चित् है वह आश्रय वाली है" इस अन्वयव्याप्ति में कोई दृष्टान्त नहीं है और दृष्टान्त के न होने से उक्त व्याप्तिग्रह ही दुर्घट है। यदि कहो कि 'दूसरी चित् दृष्टान्त रहेगी"-तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि चिन्मात्र को पक्ष मान चुके हो। "जो आश्रय वाली नहीं है वह चित् भी नहीं है"—इस व्यतिरेक व्याप्ति का भी अभाव है, क्योंकि हमारे मत में चित् से भिन्न वस्तुमात्र साश्रय है अतः हमारे प्रति तुम कोई दृष्टान्त नहीं दे सकते प्रत्युत साश्रयत्वाभावाभाव (साश्रयत्व) ही चिद्भेद का साधक है और चिद्रूपता अनाश्रितता को सिद्ध करती है। व्यतिरेकी अनुमान अप्रयोजक-शङ्का से भी कलङ्कित है, अर्थात् "चित् में चित्त्व-धर्म रहे और साश्रयत्व मत रहे"—इसमें हमारी क्या हानि है ? "चित् साश्रया गुणत्वात्=गुणरूप होने से चित् (ज्ञान) साश्रया है"—यह दूसरा अनुमान भी ठीक नहीं है क्योंकि चित् की गुणरूपता ही सिद्ध नहीं है अतः गुणत्व-हेतु स्वरूपासिद्ध है।

नान्त्योर्थमात्रे सति साश्रये स्याच्चिदाश्रयोप्याश्रयसन्व्यपेक्षः।
तथा सतीयं प्रथितानवस्था निवारणीया बलिनेह केन ॥

"चित् साश्रया पदार्थत्वात्=चित् पदार्थरूप होने से आश्रय वाली है।"—यह तीसरा अनुमान भी ठीक नहीं है क्योंकि चित् का आश्रयीभूत पदार्थ भी पदार्थरूप हेतु से किसी दूसरे आश्रयरूप पदार्थ की अपेक्षा करेगा और वह आश्रय भी किसी अन्य आश्रय की आशा करेगा, इस प्रकार इस अनवस्था

दोष को कोई बलवान् पुरुष भी नहीं हटा सकेगा ।

अनवस्था के समान अन्योन्याश्रय, आत्माश्रय और चक्रक आदि दोषों को भी स्वयं जान लेना चाहिए ।

चिद्रूप एवायमुपेय आत्मा श्रुतेश्च युक्तेश्च न हेयमेतत् ।
प्रतिक्षणध्वंस इहाभ्युपेयः किं दीपदृष्टान्तवशादिहार्थात् ॥

अतः श्रुति और युक्ति द्वारा "चित् ही आत्मा है"—ऐसा मानना चाहिए, इस चिदात्मा को त्यागना नहीं चाहिए । बौद्ध लोग क्षण क्षण में नष्ट होने वाले ज्ञान को ही आत्मा मानते हैं, अब उनका खण्डन करते हैं ।

ज्ञानस्वरूप आत्मा को क्षणिक मानने से कुछ प्रयोजन सिद्ध होता है या दीपक के दृष्टान्त से उसे क्षणिक मानते हो ?

प्रयोजनं न क्षणिकत्वपक्षे चितेः किमप्यत्र विलोकयामः ।
आद्यस्तु दीपोपमयैव तत्त्वे तदस्तु सूर्योपमया स्थिरत्वम् ॥

ज्ञान को क्षणिक मानने में कुछ प्रयोजन तो हम देखते नहीं हैं । और दीप के समान यदि चिदात्मा क्षणिक है तो सूर्य्य के समान वह नित्य क्यों नहीं है ?

घटोपलब्धौ न पटोपलब्धिः पटोपलब्धौ न घटोपलब्धिः ।
आबालगोपालमिति प्रसिद्धं तस्मान्न सिद्धं यदि तत्स्थिरत्वम् ॥

यदि कहो कि घट के ज्ञानकाल में पट का ज्ञान नहीं रहता और पट के ज्ञान-काल में घट का ज्ञान नहीं रहता-यह बाल बच्चों और गोपालों तक में प्रसिद्ध है, इस लिये ज्ञान में स्थिरता नहीं है, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है ।

तद्ब्रूहि लाक्षारससन्निधाने न पीतभावं स्फटिकोऽभ्युपैति ।
पीतेऽथवा वस्तुनि सन्निकृष्टे न रक्ततामित्यपि सुप्रसिद्धम् ॥
ततः किमस्तु स्फटिकः स्थिरात्मा त्वनुरागभेदात्क्षणिकोऽमलात्मा ।
अतोऽत्र विज्ञानमयोऽयमात्माऽमलोऽचलोऽनित्यविभुर्विबोधः ॥

क्योंकि जगत् में यह बात भी बाल गोपाल तक प्रसिद्ध है कि लाख—के रसकी समीपता में स्फटिक पीलेपन को और पीली वस्तु की समीपता में रक्तपन को प्राप्त नहीं होता, ऐसी दशा में क्या तुम उस निर्मल और स्थिर स्वभाव वाले स्फटिक को रङ्ग के भेद के कारण क्षणिक कहोगे ? इस लिये विज्ञानमय यह आत्मा निर्मल, अचल, नित्य, विभु और ज्ञानस्वरूप है ।

तत्तत्प्रकाश्याकृतिचित्तसूर्य्याश्मभित्तिभागे प्रतिबिम्बितात्मा ।
तन्नाशतो नष्ट इवैतदास्ते क्रमात्क्रमीव प्रतिभासते नः ॥

घटपटाद्याकार-चित्तरूप सूर्य्यकान्तमणि में प्रतिबिम्बित यह आत्मा, घटाद्याकार-वृत्ति के नाश होने पर नष्ट हुआ सा और घटपट आदि आकारों के क्रमवाली चित्तवृत्ति के क्रमों वाला सा हमें प्रतीत होता है । अतः जैसे जपाकुसुम आदि उपाधियों के रंग उत्पन्न और नष्ट होते हुए तथा परिवर्त्तन होते हुए भ्रान्ति से स्फटिक में भासते हैं, इसी प्रकार चित्तवृत्ति के क्षणिकत्व आदि धर्म, नित्य आत्मा में भ्रम से भासते हैं, वस्तुतः यह चिद्रूप आत्मा नित्य है । और नित्य होने के कारण ही यह चिदात्मा किसी के आश्रित नहीं है, "अन्यत्र नित्य-द्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यत इति न्यायेनापीत्यर्थः ।"

नैनं प्रकाशयति कश्चिदयं चिदात्मा
सर्वं प्रकाशयति नैव करोति चैनम् ।
कश्चित्करोति भुवनानि चतुर्दशायं
हन्तास्य नायमुपसंहरति त्रिलोकीम् ॥

चिदात्मा को कोई पदार्थ प्रकाशित नहीं करता है, पर चिदात्मा सब को प्रकाशित करता है। इसकी रचना करने वाला कोई नहीं है किन्तु यह चौदह भुवनों की रचना करता है। इसका हनन करने वाला कोई नहीं है परन्तु यह त्रिलोकी का उपसंहार करता है !

वस्त्वेव तत्र न हि यत्र तु नायमास्ते
कालं तमत्र कलयामि न यत्र नायम् ।
देशोपि दुर्लभतरः स तु यत्र नास्ति
बालादिधर्मरहितो विमलश्चिदात्मा ॥

ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जिसमें यह आत्मा नहीं है, ऐसा काल बुद्धि में नहीं आता जिसमें चिदात्मा नहीं है, ऐसा देश भी दुर्लभ है जिसमें यह नहीं है, यह ज्ञानमय निर्मल आत्मा बचपन, जवानी और बुढ़ापे आदि धर्मों से रहित है।

नैनं प्रकाशयति वागगृहीतसङ्गा
नैनं मनोविशति मानपथव्यतीतम् ।
वेदः प्रमाणपथमागतमर्थजातं
सर्वं निषिध्य परिभीतवदाह शेषम् ॥

आत्मा के साथ सम्बन्ध न होने के कारण वाणी इसे प्रकाशन नहीं कर सकती है। प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों का विषय न होने से यह आत्मा मन का विषय भी नहीं है। प्रमाणविषयीभूत सब पदार्थों का निषेध करके वेद डरते डरते शेष आत्मरूप वस्तु को प्रतिपादन करता है।

नैवास्ति किञ्चिदणु यस्य न सोऽन्तरास्ते
तच्चापि नैव महदेव न यस्य बाह्यः।
सङ्कल्पहीनमिह सर्वगुहाशयं तं
पश्यत्यमुष्य कृपयैव हि वीतशोकः॥

ऐसी कोई सूक्ष्म वस्तु नहीं जिसके अन्दर यह आत्मा नहीं है। तथा ऐसा कोई महान् पदार्थ भी नहीं जिसके बाहर यह नहीं है। सब की बुद्धियों में विद्यमान सङ्कल्परहित उस आत्मा को शोकरहित पुरुष उसी की कृपा से साक्षात् करता है।

सत्यस्य नैव चरणौ जवनस्य नैव
हस्तौ ग्रहीतुरपि पश्यति सोक्षिहीनः।
कर्णौ न चास्य स शृणोति स वेत्ति सर्वं
तं वेद कोपि न पुराणमनन्तमाद्यम्॥

उस सत्यात्मा के चरण नहीं हैं परन्तु वह अतिशय वेग वाला है। उसके हाथ नहीं तथापि वह ग्रहण करता है। नेत्र न रहते हुए भी वह देखता है। उसके कान नहीं हैं तोभी वह सुनता है। वह सब को जानता है परन्तु उस अनादि अनन्त और सब के आदि परमात्मा को कोई भी नहीं जानता है।

श्रोत्रस्य यः समुपयात्यपि कर्णभावं
यो वा मनश्च मनसोप्यथं वाक् च वाचः ।
प्राणस्य प्राण इह चक्षुष एति चक्षु—
र्भावं तमेत्य खलु मुक्तिमुपैति धीरः ॥

जो श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाणी की वाणी, प्राण का प्राण और नेत्र का नेत्र है, अर्थात् सब इन्द्रिय जिस की शक्ति से अपने अपने व्यापार में समर्थ होते हैं, और धीर पुरुष उस आत्मा को जान कर मुक्ति को प्राप्त होता है ।

अन्यत्र योस्ति विदिताविदितार्थयुग्मा—
दन्यत्र योस्ति च कृतादकृताच्च भूमा ।
अन्यत्र भूतनिचयाच्च भविष्यतश्च
व्याख्यापदत्वमुपयाति ततो य ईशः ॥

जो आत्मा विदित (व्याकृत) और अविदित (अव्याकृत) दोनों प्रकार के पदार्थों से भिन्न है । जो परिपूर्ण-ब्रह्म कार्य्य और कारण से भी अन्य है, जो आत्मा भूत भविष्यत् और वर्त्तमान-तीनों कालों से अपरिच्छिन्न है, तथा जो किसी प्रकार भी व्याख्यान का विषय नहीं है, वही ईश है ।

कालत्रये पि य इहाभ्युदितो न वाचा
येनाभ्युदेति निखिलापि च वाक् स आत्मा ।
यं चेतसा न मनुते मतमाहुरत्र
येनेदृशं मतमुदीर्यत एष आत्मा ॥

यं चक्षुषा न परिपश्यति पश्यतीह
चक्षूंषि येन स भवेच्छ्रुतिसिद्ध आत्मा ।
श्रोत्रेण यन्नहि शृणोति शृणोति येन
श्रोत्रं स एव सुखबोधमयः किलात्मा ॥

जो तीन काल में भी वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता, जिस की शक्ति से सब वाणियां बोलने में समर्थ होती हैं वही आत्मा है। पुरुष जिसको मन से मनन नहीं कर सकता, मन जिसके सामर्थ्य से मनन करने में समर्थ होता है—इस प्रकार के सिद्धान्त को जो कथन करता है वही आत्मा है। मनुष्य जिसे आंखों से नहीं देख सकते किन्तु आंखें ही जिसके अनुग्रह से देखती हैं, जिसे कानों से सुन नहीं सकते हैं प्रत्युत कानही जिसकी सत्ता से शब्दादि को सुनते हैं, वही श्रुतिसिद्ध सुखबोधरूप आत्मा है।

प्राणेन यः क्वचन नानिति संप्रणीय—
ते प्राण एष खलु येन स एव चात्मा ।
कामेन केपि यदिदं समुपासतेऽज्ञाः
नात्मायमित्यवधृतिः श्रुतिशेषसिद्धा ॥

जिसमें प्राण से किसी प्रकार की चेष्टा नहीं होती है और यह प्राण जिसकी शक्ति से चेष्टा करता है वही आत्मा है। मूर्ख लोग फल की इच्छा से जिस जड़ वस्तु की उपासना करते हैं वह आत्मा नहीं है—यह वेदान्तों का निश्चय है।

यस्यामतो भवति तस्य मतोयमात्मा

जानन्ति ये न विदितोस्ति परः स तेषाम् ।
जानन्ति ये न विदितः परमेष तेषाम्
सर्वाद्भुतैकनिधिरत्र न संशयोऽस्ति ॥

जिस विद्वान् पुरुष की दृष्टि में यह आत्मा घट आदि के समान ज्ञान का विषय नहीं है वही आत्मा को जानने वाला है। और जो लोग आत्मा को घट आदि के समान ज्ञान का विषय मानते हैं, उन्हें उस परम आत्मा का ज्ञान नहीं है, क्योंकि जो इस आत्मा को जानते हैं वे उसे ज्ञान का अविषय कहते हैं, इस प्रकार यह आत्मा सब आश्चर्यों की खान है, इसमें संशय नहीं ।

शृण्वत्र तन्वि बहुना किमिहोदितेन
ज्ञानं प्रतीतिरथ धीर्धिषणा मनीषा ।
चित्प्रत्ययोनुभव ईक्षणमाप्तिरात्मा
प्रज्ञानमित्यभिधया प्रतिपाद्य एव ॥

हे सुन्दरि ! सुनो, इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ? यह आत्मा "ज्ञान, प्रतीति, धी, धिषणा, मनीषा, चित्, प्रत्यय, अनुभव, ईक्षण, आप्ति, आत्मा और प्रज्ञान"—इत्यादि नामों से प्रतिपाद्य है ।

विज्ञानरूप इह यः प्रतिपत्तिमेति
नान्धो न पङ्गुरथ नो बधिरो न मूकः ।
न ब्राह्मणो न भुजभून्न तथोरुजातः
शूद्रोपि किं बहुगिरा श्वपचोपि नैव ॥

जिस आत्मा का विज्ञानरूप से साक्षात्कार होता है, वह न अन्धा है न लंगड़ा, न बहरा न गूंगा, न ब्राह्मण न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र है, बहुत क्या ! वह चाण्डाल भी नहीं है।

विज्ञानमेतदखिलं परमद्वितीयं
निःसङ्गमाकृतिविहीनमसद्द्वितीयम् ।
सद्रूपमंशरहितं परिणामहीन-
मानन्दरूपमपरप्रतिभाष्यतत्त्वम् ॥

यह आत्मा विज्ञानमय, सर्वमय, पर, अद्वितीय, निःसङ्ग, आकारशून्य, सजातीय दूसरी वस्तु से रहित, सद्रूप, निरवयव परिणाम से शून्य और आनन्दरूप है। इसके यथार्थ रूप को कोई भी निरूपण नहीं कर सकता है।

न स्थूलभावमुपयाति न चाणुभावं
नो ह्रस्वदीर्घतनुभृत्तदलोहितञ्च ।
अस्नेहमुज्झिततमस्कमवायुरूपं
नो पावकं च तदनावरकं विसङ्गम् ॥

यह आत्मा स्थूलता और सूक्ष्मता को प्राप्त नहीं होता है, छोटे या लम्बे शरीर वाला नहीं है, स्नेह से रहित है। अन्धकार, वायु, अग्नि और आकाश-स्वरूप भी नहीं है और असङ्ग है।

सन्त्यक्तसर्वरसगन्धमनेत्रमेत-
दश्रोत्रवाग्हृदयदीप्तिकमास्यहीनम् ।

अप्राणमात्रकमनन्तरमण्यबाह्यं
नाश्नाति किञ्चन न कश्चन चैतदत्ति ॥

यह आत्मा सर्वरस और गन्ध से रहित है, नेत्र, श्रोत्र, वाणी, हृदय और वृत्तिरूप ज्ञान से शून्य है, मुख वाला नहीं है, प्राणमात्र से रहित है, न अन्दर है न बाहर, न किसी को यह खाता है और न कोई इस को खाता है।

पुं–स्त्री–नपुंसक–विभागविहीनमेत–
द्वर्णाश्रमोज्झितमजातिविशेषरूपम् ।
सर्वोदयास्तमयहीनमहःस्वरूपं
स्तुत्यं न निन्द्यमपि नो गुणदोषहीनम् ॥

पुरुष, स्त्री और नपुंसक रूप विभाग से यह आत्मा रहित है, वर्ण-आश्रम या ब्राह्मण आदि जाति वाला नहीं है, सर्व प्रकार की उत्पत्ति और विनाश से रहित है, दिन के समान है, न स्तुति के योग्य है न निन्दा के, तथा गुण और दोष से भी शून्य है।

जीवत्वमेति न न चैति परेश्वरत्वं
सर्वोपधानपरिवर्जितशुद्धरूपम् ।
नान्तोस्य वस्तुतः उदश्चति नापि काला–
देशात्तथा न परं प्रथितश्चिदात्मा ॥

यह सर्वविदित चिदात्मा न जीवभाव को प्राप्त होता है न परमेश्वरभाव को, किन्तु सर्व उपाधियों से रहित शुद्धस्वरूप है, तथा वस्तु, देश और काल से जिस के अन्त का निरूपण नहीं किया जा सकता अर्थात् त्रिविध परिच्छेद से शून्य है।

अमलकमलनेत्रे तत्र या जीवता वा
परमपुरुषता वा स ह्युपाधेर्विलासः।
वदसि क इव तस्मिन् स्यादुपाधिर्विसङ्गे
मदविसरदनङ्गे तत्समाकर्णयास्मत् ॥

हे स्वच्छकमल से नेत्रों वाली चित्तवृत्ति! चिदात्मा में जो जीवता या ईश्वरता है वह उपाधि का ही विलास है। यदि तू ऐसा कहे कि असङ्ग आत्मा में उपाधि कैसा? तो इस का समाधान सुनो।

इह भवति स कश्चित् सर्वसंसारबीजं
सुतनु परमुपाधिर्यावदीहास्त्यविद्या।
इयमपि न सती वा नासती वोभयात्मा
न हि जगुरिति विज्ञास्तामनिर्वाच्यरूपाम् ॥

हे सुन्दरि! वह उपाधि ही सर्व संसार का कारण है, उसे क्रियाशक्ति वाली अविद्या कहते हैं, यह अविद्या सत्, असत् या सदसत् रूप नहीं है, पण्डित लोग इसे अनिर्वचनीया कहते हैं।

वरतनु चिदविद्यायोगमप्येवमाहुः
त्वयमपि पुनरस्या यक्षनैवेद्यतुल्यम्।
सकलभुवनमालापादपस्याहुरेनां
श्रुतिचयविमूढाः पण्डिता बीजभूताम् ॥

हे उत्तम शरीर वाली! चित् और अविद्या का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय ही है। "जैसा यक्ष वैसा नैवेद्य"—इस न्याया-

नुसार इस अविद्या का क्षय भी अनिर्वचनीय ही है । वेदान्त-तत्त्वज्ञ शिरोमणि पण्डित लोग इसको सम्पूर्ण भुवनसमुदाय रूप वृक्ष का बीज कहते हैं ।

सृष्टेः कालेऽव्याकृतं सर्वमासीन्न्यग्रोधो वाणुप्रमाणे स्वबीजे ।
दृष्टान्तोऽयं साध्यहीनो मतश्चेत् तत्र ब्रूमो युक्तिमाकर्णयैताम् ॥

जैसे वट वृक्ष अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने अणु-प्रमाण बीज में सूक्ष्मरूप से रहता है ऐसे ही यह जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत (नामरूप से रहित) था । यदि तू कहे कि यह दृष्टान्त साध्यहीन है, अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व स्वबीज में वटवृक्ष नहीं रहता है, तो इसके समाधान में युक्ति कहते हैं उसे सुनो ।

न्यग्रोधश्चेत्तन्वि बीजेऽत्र न स्या दत्यन्तासन्नैव जायेत तस्मात् ।
अत्यन्तासन्नप्यमुष्माद्भवेच्चेत् किं तद्बीजात्स्यान्न चूताङ्कुरोपि ॥
तस्मात्कार्यं कारणाज्जायते सदित्येवैषा प्रक्रिया युक्तियुक्ता ।
तस्माच्चिन्मात्राश्रिताऽव्याकृताख्या पूर्वप्रोक्ता स्यादविद्यैव तन्वि

हे चित्तवृत्ते ! यदि वटवृक्ष उत्पत्ति से पहले अपने बीज में न होता तो अत्यन्त असत् वह वट उस बीज से कभी उत्पन्न ही न होता, यदि ऐसा कहो कि अत्यन्त असत् होकर भी वह वट उस बीज से उत्पन्न हो जाय, इसमें हानि क्या है ? तो हम कहते हैं कि वटबीज से आम्र का अङ्कुर भी क्यों नहीं उत्पन्न होता ? उसकी भी तो उस वटबीज में अत्यन्त असत्ता है, इस लिये यही मानना पड़ेगा कि जो कार्य जिस कारण में विद्यमान है वही उससे उत्पन्न होता है और जो उसमें

अविद्यमान है वह नहीं हो सकता। यही प्रक्रिया युक्तियुक्त है—इस लिये चिन्मात्र के आश्रित पूर्वोक्त सूक्ष्म अविद्या ही जगत् का कारण है—ऐसे ही मानना चाहिए।

एतन्मात्रोपाधिकत्वेन जात श्चिन्मात्रात्मा ब्रह्मशब्दाभिधेयः।
ईशानं यं वशिनं प्राहुरार्य्याः सर्वाधीशं सर्वभूताधिवासम्॥
भूतानां यं पालकं सेतुमेत द्धृत्यै लोकानामसम्बन्धहेतुम्।
सर्वाभिज्ञं सर्वशक्तिप्रतिष्ठं सर्वोपास्यं सर्वलोकेशपालम्॥

मायारूप उपाधि से युक्त चिन्मात्र आत्मा, ब्रह्म (ईश्वर) शब्द से कहा जाता है। ऋषि मुनि इस ब्रह्म को ईशान (सब को नियम में रखने वाला), वशी (वश में रखने वाला), सर्वाधीश, सब भूतों का अधिष्ठान, भूतों का पालक, सब लोकों के असम्बन्ध का हेतु तथा उनको धारण करने वाला, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सब का उपास्य (उपासना करने योग्य) और सब लोकेश्वरों का पालक कहते हैं।

बुद्धिप्रधानत्वमुपेत्य तस्मिन् हिरण्यगर्भव्यपदेश इष्टः।
मनःप्रधानत्वमपेक्ष्य चात्र भवेच्च सूत्रव्यपदेशभाक्त्वम्॥

समष्टि बुद्धिरूप उपाधि से युक्त चिन्मात्र आत्मा को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। और सङ्कल्प आदि रूप समष्टि मन से उपहित आत्मा को "सूत्र" कहते हैं।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां तस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इति श्रुत्यैव तद्रूपं चित्तवृत्ते स्फुटीकृतम्।
स एष परमात्मेति कथ्यते व्यवहारिभिः॥

सृष्टि के आदि में भूतों का पति एक 'हिरण्यगर्भ' उत्पन्न हुआ और उत्पन्न हो कर उसने इस पृथिवी और द्युलोक (सूर्य्यादि लोक) को धारण किया, हम उस सुखस्वरूप हिरण्यगर्भ को घृत आदि हविष्य पदार्थों से पूजन करते हैं। इस अर्थ वाली श्रुति ने हिरण्यगर्भ को स्पष्टरूप से कहा है, हे चित्तवृत्ते ! उसे ही साधारण लोग परमात्मा कहते हैं।

यथोर्णनाभिः स्वकृतै स्तन्तुजालैः समुच्चरेत् ।
यथाग्नेर्व्युच्चरन्तीमे ऽतिक्षुद्रा विस्फुलिङ्गकाः ॥
व्युच्चरन्त्येवमेवास्मा त्सर्वे प्राणाः परात्मनः ।
सर्वे लोकाः सर्वदेवा भूतान्येतान्यशेषतः ॥
यत्किञ्चेदं जगत्सर्वं स्थावरान्तं वरानने ।
तत्र सर्वत्र कर्तृत्वं तस्यैवेत्यवधारय ॥

जैसे मकड़ी किसी दूसरे की सहायता न लेकर तन्तुजाल को उत्पन्न करती है तथा जैसे अग्नि से अत्यन्त छोटी छोटी चिन्गारियां निकलती हैं, ऐसे ही इस परमात्मा से सब प्राण, सब लोक, सब देवता, सब भूत और स्थावर पर्य्यन्त यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। हे सुमुखि ! वही इन सब का कर्त्ता है, ऐसा तू निश्चय जान।

उदासीनादसङ्गाच्च चिन्मात्राद्भिद्यते यथा ।
परेशो यत्र वाऽविद्या तन्मया ते निरूपितम् ॥

हे चित्तवृत्ते ! जिस प्रकार ईश्वर और उदासीन असङ्ग चिन्मात्र आत्मा से परस्पर भेद होता है और जिस में यह अविद्या रहती है उसका निरूपण मैंने तुमसे कर दिया।

जगद्धिरण्यगर्भादि स्थावरान्तं वरानने ।
आविद्यकं विभात्येत दद्वितीये चिदात्मनि ॥

हे सुमुखि ! अद्वितीय चिदात्मा में अविद्या से कल्पित हिरण्यगर्भ से लेकर स्थावर पर्य्यन्त यह जगत् भास रहा है ।

रूपं समष्ट्यादि तथा नामसूत्रादि यत्किल ।
बुद्धिसङ्कल्पकार्यत्वा त्तदुपाधौ न विद्यते ॥

समष्टिबुद्ध्याद्यात्मक रूप-प्रपञ्च और सूत्रहिरण्यगर्भ आदि नाम-प्रपञ्च, यह दोनो बुद्धि तथा सङ्कल्प का कार्य होने के कारण अविद्या के ही धर्म हैं, शुद्ध आत्मा के नहीं ।

ब्रह्मादीनां शरीराणि श्वशूकरशरीरवत् ।
सुरेश्वरोक्तिरेषात्रा विद्यावैभववादिनी ॥

ब्रह्मा आदि के शरीर कुत्ते सुअर आदिकों के शरीरों के समान हैं—यह श्री सुरेश्वराचार्य्य के वचन अविद्या के प्रभाव को ही कह रहे हैं ।

तस्माच्चिन्मात्राश्रयाथ चिन्मात्रविषया सती ।
अविद्या दर्शयत्येत ज्जगद्रज्जुभुजङ्गवत् ॥

इस प्रकार यह अविद्या चिन्मात्र को आश्रयण करके और चिन्मात्र को ही विषय करके रज्जुसर्प के समान इस जगत् को दिखा रही है ।

श्री सर्वज्ञ मुनि ने 'संक्षेप शारीरक' में कहा है कि:—

"आश्रयत्व-विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥"

जीवेश्वर-विभाग से रहित अद्वितीय शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय और विषय है, क्योंकि पश्चात् उत्पन्न होने वाले जीव और ईश्वर पूर्वसिद्ध अज्ञान के न तो आश्रय हो सकते हैं, और न विषय।

ज्ञानाज्ञानविरोधेऽत्र प्रसिद्धे सति सर्वथा ।
ज्ञानात्माश्रयतां यात्य-ज्ञानमित्युचितं भवेत् ॥

हे सुन्दरमुखि ! इस संसार में ज्ञान और अज्ञान का विरोध सर्वथा प्रसिद्ध है, तो भी ज्ञानरूप आत्मा अज्ञान का आश्रय है और ऐसा होना उचित ही है।

ज्ञानजन्यः परिणाम श्चेतसः समुदेति यः ।
सोऽज्ञानस्य विरोध्यस्ति न चिच्छुद्धा वरानने ॥

क्योंकि वेदान्तवाक्यों के ज्ञान से जन्य जो अन्तःकरण का परिणाम-विशेष (वृत्त्यात्मक ज्ञान) है वही अज्ञान का विरोधी है, शुद्धचित् विरोधी नहीं।

उदासीनमसङ्गं च चैतन्यं जगदाश्रयम् ।
ज्ञानोपाधिप्रसङ्गेन बाध्यबाधकतां गतम् ॥

उदासीन, असङ्ग, चैतन्य, जगत् का आश्रय आत्मा, शरीर आदि उपाधि से युक्त हो कर बाध्यरूप और महावाक्य-जन्य ज्ञान से युक्त हो कर बाधकरूप को प्राप्त होता है। वस्तुगत्या शुद्ध आत्मा में बाध्यबाधकभाव नहीं है।

तस्मान्न जगदारोपे शङ्काशूकोऽस्ति भामिनि ।
न चाविद्यैव नास्तीह मानाभावादितीरय ॥

हे चित्तवृत्ते ! इस लिये जगत् के आरोपित होने में अब कोई शङ्का शेष नहीं है। किन्तु अविद्या के होने में कोई प्रमाण नहीं है अतः अविद्या कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा तुम मत कहो।

प्रमाणानि प्रवर्त्तन्ते बहून्यत्र सुमध्यमे ।
इन्द्रो मायाभिरित्येव मन्त्रस्तां किल भाषते ॥

हे सुन्दरि ! माया (अविद्या) के होने में अनेक प्रमाण हैं। "आत्मा, माया के कारण अनेक रूप वाला प्रतीत हो रहा है"—यह मन्त्र माया (अविद्या) का ही निरूपण कर रहा है।

न तं विदाथेति तथा जामेकामिति चापरः ।
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ॥

"तुम अज्ञान से आवृत होने के कारण उस आत्मा को नहीं जानते हो"। "एक आदि सत्त्व, रजः और तमोगुण वाली तथा अनेक प्रकार की प्रजाओं (सृष्टि) को उत्पन्न करने वाली प्रकृति (माया) को एक जीव अज्ञान के कारण भोग रहा है"। यह दोनों श्रुतियां भी अविद्या के विषय में प्रमाण हैं।

भगवद्वचनं चेत्थं तां प्रकाशयति स्फुटम् ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञान मित्यपि प्रकटं वचः ॥

" मुझ परमात्म-सम्बन्धिनी तीन गुणों वाली माया का पार पाना दुःसाध्य है"। तथा "अज्ञान से ज्ञानरूप आत्मा छिप रहा है"—भगवान् के यह दोनों वचन स्पष्टरूप से अविद्या का कथन कर रहे हैं।

जीव एको ऽथवा नाने त्यास्ते यस्तव संशयः ।
तं श्रुतिस्मृतिवृद्धोक्तै दृष्टान्तैर्दूरतः कुरु ॥

"जीव एक है या अनेक"—इस संशय को तू श्रुति, स्मृति और वृद्धों से कहे गये दृष्टान्तों द्वारा दूर कर ।

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

एक परमात्मा ही सर्वभूतों में गुप्त हो कर स्थित है । और वह सर्वव्यापक, सब भूतों का अन्तरात्मा, कर्मफलों को देने वाला, सब भूतों का अधिष्ठान, साक्षी, चित्स्वरूप, केवल और निर्गुण है ।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

एक ही आत्मा प्रत्येकभूत में विद्यमान है, जलचन्द्र के समान एक और अनेक हो कर दिखाई दे रहा है ।

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥

जैसे दूध में घी निगूढ़ (गुप्त) हो कर रहता है ऐसे ही प्रत्येक भूत में आत्मा भी अन्तर्लीन होकर रहता है, मनोरूप रई (मथनी) से इसे निरन्तर मथन करना चाहिए ।

यत्कृत्स्नं ब्रह्म पूर्वोक्तं तदेवेदमविद्यया ।
एकधा नैकधा मूढैः कल्प्यते व्योमचित्रवत् ॥

जिस परिपूर्ण ब्रह्म का पूर्व वर्णन किया गया है, मूर्ख

लोग अज्ञान से इसी ब्रह्म को आकाशगत चित्र के समान एक प्रकार का तथा अनेक प्रकारका कल्पना करते हैं।

एक एव तु विश्वात्मा मायया मोहयन् जगत्।
एकतां बहुतामेति कुम्भवन्मणिसंश्रयात् ॥

मणि के सम्बन्ध से घड़ा जैसे अनेक प्रकार का प्रतीत होता है ऐसे ही एक ही विश्वात्मा अपनी माया से जगत् को मोहन करके एक तथा अनेक प्रकार का प्रतीत हो रहा है।

स्वाभासवर्त्मनैवैत – त्स्वात्माज्ञानजभूमिषु।
द्वित्वं बहुत्वमेकं स द्वियद्वद्व घटादिषु ॥

जैसे एक आकाश घट आदि के भेद से दो और अनेक प्रतीत होता है, इसी प्रकार आत्मा भी अनेक अन्तःकरणों के कारण अनेक सा प्रतीत होता है।

तस्मात्तत्तदहङ्कार मुकुरे प्रतिविम्बितः।
एक एव चिदात्मायं जीवतां बहुतां गतः ॥

एक ही चिदात्मा तत्तत्-अहङ्काररूप दर्पण में प्रतिबिम्बित हो कर जीवरूप से और नानारूप से प्रतीत हो रहा है।

कर्त्ता भोक्ता प्रमाताह – ङ्कारेणैक्यमुपागतः।
कर्तृभोक्तृप्रमातृत्वा – न्यात्मन्येव निरीक्षते ॥

अहङ्कार ही कर्त्ता, भोक्ता और प्रमाता है, पुरुष उस अहङ्कार में ऐक्याध्यास से आत्मा में ही, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और प्रमातृत्व को मान लेता है।

लोहतादात्म्यमापन्न स्ताड्यतेऽग्निर्यथा घनैः।
अहङ्कारैकतां प्राप्ता संसारैः पीड्यतेऽत्र चित् ॥

जैसे लोहे के तादात्म्य को प्राप्त हुआ अग्नि घनों से पीटा जाता है, ऐसे ही चित् भी अहङ्कार के साथ एकता को प्राप्त हो कर संसारधर्मों से पीड़ित हो रही है।

किं वक्तव्यमविद्याया विलासात्मकमद्भुतम् ।
कलत्रपुत्रवैकल्यैः साकल्यैश्चिन्निपीड्यते ॥

अविद्या के अद्भुत विलास का क्या कहना है ! कि जिस के प्रभाव से स्त्री पुत्र आदि के वैकल्य (दुःख) और साकल्य (सुख) से चिदात्मा पीड़ित हो रहा है।

अतो जीवत्वमभ्येति चिदहंकृतिमिश्रणात् ।
कामादीन् मानसान्धर्मा नात्मस्थत्वेन पश्यति ॥

अतः अहङ्कार से युक्त हो कर चित् जीवभाव को प्राप्त होती है और अन्तःकरण के काम आदि धर्मों को अपने में देखती है।

वस्तुतस्तु चिदात्मत्वा ज्जीव आनन्दवारिधिः ।
तं तथाविधमासाद्य विशोका भव शोभने ॥

हे सुन्दरि ! वस्तुतः तो जीव चिदात्मरूप होने के कारण आनन्द का सागर है, तू उस आनन्दसमुद्र आत्मा को जान कर शोक से रहित हो।

सर्वज्ञो जगदीशानः किञ्चिज्ज्ञो जीवसंज्ञितः ।
सर्वकर्त्ता जगन्नाथो जीवः किञ्चित्करो मतः ॥

जगदीश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है, जगन्नाथ (ईश्वर) सब का कर्त्ता है, जीव कुछएक वस्तुओं का कर्त्ता है।

चिन्मात्ररूपयोरेवं प्रकाशातपयोर्भिदा ।
अज्ञानतज्जकृत्यं त दित्यवेहि मृगेक्षणे ॥

चिन्मात्ररूप जीव और ईश्वर में प्रकाश और धूप के समान भेद है । हे मृगलोचने ! अज्ञानरूप उपाधिवाला ईश्वर है और अन्तःकरण उपाधिवाला जीव है—ऐसा जान ।

एवं प्रबोधिता चित्त वृत्तिर्हृष्टा सती पुनः ।
पप्रच्छ स्वानुजं किञ्चि द्विहस्योत्फुल्ललोचना ॥

इस प्रकार प्रबोधन की गई वह खिले हुए नेत्रोंवाली चित्तवृत्ति प्रसन्न होकर और मुस्करा कर अपने छोटे भाई से पूछने लगी ।

चिदद्वैतमिदं वत्स यत्त्वयोक्तं तथैव तत् ।
अत्र विप्रतिपत्तिर्मे प्राप्ता गगनपुष्पताम् ॥

हे वत्स ! चित् अद्वैतरूप है—इत्यादि जो कुछ आपने कहा वह सब यथार्थ है, इस विषय में मेरी शङ्का आकाशपुष्प के समान हो गई !

जगताविद्यकेनात्मा सद्वितीयः कथं भवेत् ।
स्वप्नोपलब्धदाराद्यैः कुटुम्बी कोस्ति वस्तुतः ॥

अविद्या से कल्पित जगत् के कारण द्वैत की सम्भावना कैसे हो सकती है ? स्वप्न में पाये हुए स्त्री पुत्र आदिकों से कौन पुरुष परमार्थ में कुटुम्बी हुआ है ?

रज्जुसर्पेण सर्पश्चे त्सद्वितीयत्वमाश्रयेत् ।
गोबन्धनादौ तस्याःस्या न्नोपयोगः कथञ्चन ॥

जैसे लोहे के तादात्म्य को प्राप्त हुआ अग्नि घनों से पीटा जाता है, ऐसे ही चित् भी अहङ्कार के साथ एकता को प्राप्त हो कर संसारधर्मों से पीड़ित हो रही है।

किं वक्तव्यमविद्याया विलासात्मकमद्भुतम् ।
कलत्रपुत्रवैकल्यैः साकल्यैश्चिन्निपीड्यते ॥

अविद्या के अद्भुत विलास का क्या कहना है ! कि जिस के प्रभाव से स्त्री पुत्र आदि के वैकल्य (दुःख) और साकल्य (सुख) से चिदात्मा पीड़ित हो रहा है।

अतो जीवत्वमभ्येति चिदहंकृतिमिश्रणात् ।
कामादीन् मानसान्धर्मा नात्मस्थत्वेन पश्यति ॥

अतः अहङ्कार से युक्त हो कर चित् जीवभाव को प्राप्त होती है और अन्तःकरण के काम आदि धर्मों को अपने में देखती है।

वस्तुतस्तु चिदात्मत्वा ज्जीव आनन्दवारिधिः ।
तं तथाविधमासाद्य विशोका भव शोभने ॥

हे सुन्दरि ! वस्तुतः तो जीव चिदात्मरूप होने के कारण आनन्द का सागर है, तू उस आनन्दसमुद्र आत्मा को जान कर शोक से रहित हो।

सर्वज्ञो जगदीशानः किञ्चिज्ज्ञो जीवसंज्ञितः ।
सर्वकर्त्ता जगन्नाथो जीवः किञ्चित्करो मतः ॥

जगदीश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है, जगन्नाथ (ईश्वर) सब का कर्त्ता है, जीव कुछएक वस्तुओं का कर्त्ता है।

चिन्मात्ररूपयोरेवं प्रकाशातपयोर्भिदा ।
अज्ञानतज्जकृत्यं त दित्यवेहि मृगेक्षणे ॥

चिन्मात्ररूप जीव और ईश्वर में प्रकाश और धूप के समान भेद है । हे मृगलोचने ! अज्ञानरूप उपाधिवाला ईश्वर है और अन्तःकरण उपाधिवाला जीव है—ऐसा जान ।

एवं प्रबोधिता चित्त वृत्तिर्हृष्टा सती पुनः ।
पप्रच्छ स्वानुजं किञ्चि द्विहस्योत्फुल्ललोचना ॥

इस प्रकार प्रबोधन की गई वह खिले हुए नेत्रोंवाली चित्तवृत्ति प्रसन्न होकर और मुस्करा कर अपने छोटे भाई से पूछने लगी ।

चिदद्वैतमिदं वत्स यत्त्वयोक्तं तथैव तत् ।
अत्र विप्रतिपत्तिर्मे प्राप्ता गगनपुष्पताम् ॥

हे वत्स ! चित् अद्वैतरूप है—इत्यादि जो कुछ आपने कहा वह सब यथार्थ है, इस विषय में मेरी शङ्का आकाशपुष्प के समान हो गई !

जगताविद्यकेनात्मा सद्वितीयः कथं भवेत् ।
स्वप्नोपलब्धदाराद्यैः कुटुम्बी कोऽस्ति वस्तुतः ॥

अविद्या से कल्पित जगत् के कारण द्वैत की सम्भावना कैसे हो सकती है ? स्वप्न में पाये हुए स्त्री पुत्र आदिकों से कौन पुरुष परमार्थ में कुटुम्बी हुआ है ?

रज्जुसर्पेण सर्पश्चे त्सद्वितीयस्समाश्रयेत् ।
गोबन्धनादौ तस्याःस्या न्नोपयोगः कथञ्चन ॥

यदि रज्जु में कल्पित सर्प वस्तुतः सर्प होता तो गाय के बांधने आदि व्यवहार में उस रज्जु का किसी प्रकार उपयोग न होता।

तथापि तत्त्वबोधेन बाधो यस्यापरे क्षणे ।
आविद्यकं तदेवोक्तं जगच्चैतादृशं न हि ॥

तथापि तत्त्वज्ञान से जिस वस्तु का उसके उत्तरक्षण में बाध हो जाय, वही वस्तु अविद्याकल्पित मानी जाती है, परन्तु जगत् का बाध तो तत्त्वज्ञान के उत्तरक्षण में देखने में आता नहीं अतः वह अविद्याकल्पित कैसे हो सकता है ?

क्षयित्वाद्यन्तवैरस्य मात्रादाविद्यकं यदि ।
जगत्स्यान्न भवेद्भेदो रज्जुवल्मीकसर्पयोः ॥

यदि यह जगत् नाशवान् तथा आदि और अन्त में दुःख-दायी होने के कारण से ही अविद्याकल्पित है—ऐसा कहो तो रज्जुसर्प और बिलवाले सर्प में कुछ भेद नहीं रहेगा, क्योंकि दोनों ही नष्ट होने वाले तथा दुःख के देनेवाले हैं।

आविद्यकत्वं सर्वत्र बाधधीगम्यमेव हि ।
बाधाभावेपि तत्स्याच्चे त्प्रसरेन्न कथं चिति ॥

वस्तु का अविद्या से कल्पित होना बाधबुद्धि से ही जाना जाता है और यदि बाध के बिना ही सब वस्तुओं को अविद्या-कल्पित अङ्गीकार करोगे तो चिदात्मा को भी अविद्याकल्पित ही मानना पड़ेगा, क्योंकि उसके भी बाध का अभाव है।

तद्विवेकाश्रम ब्रूहि जगद्धीबाधिकां धियम् ।
येन शङ्काङ्कुरं हित्वा स्यामहं प्रत्यगाश्रया ॥

अतः हे विवेकाश्रम ! जगत्-बुद्धि को बाध करनेवाली बुद्धि को कहो, जिससे शङ्कारहित होकर मैं केवल प्रत्यगात्मा का आश्रय लूं ।

इति तस्या वचः श्रुत्वा विवेकाश्रमयोगिराट् ।
वशीकृता चित्तवृत्ति रिति तुष्ट उवाच ताम् ॥

उसके इन वचनों को सुन कर, "चित्तवृत्ति वश में आ गई"—ऐसा निश्चय करके योगिराज विवेकाश्रम सन्तुष्ट हो कर बोला ।

अयि चिद्रूप एवात्मा कूटस्थोन्तत्रयोज्झितः ।
अद्वितीयो ऽशनायादि वर्जितो निर्मलः स्वराट् ॥

हे चित्तवृत्ते ! चिद्रूप आत्मा कूटस्थ, त्रिविधपरिच्छेद-शून्य, अद्वितीय, भूक प्यास आदि से रहित, निर्मल और स्वयं-प्रकाशमान है ।

देश, काल तथा वस्तु स जिस का परिमाण नहीं हो सके उसको त्रिविधपरिच्छेदशून्य कहते हैं ।

वर्धते कर्मणा नायं कनीयान्नैव कर्मणा ।
महिमा नित्य एवैष बुभूषोर्ब्रह्मणः परः ॥

यह आत्मा पुण्य कर्मों से वृद्धि को और पापकर्मों से ह्रास (न्यूनता) को प्राप्त नहीं होता है, ब्रह्मवेत्ता पुरुष की यह नित्य महिमा है ।

उपाधिं कञ्चिदाश्रित्या ऽयमेव स्यात्परेश्वरः ।
कञ्चिच्चोपाधिमाश्रित्य जीवतामेष गच्छति ॥

यह आत्मा किसी उपाधि के सम्बन्ध से परमेश्वर हो जाता है और किसी उपाधि का आश्रयण करके जीवभाव को प्राप्त हो जाता है ।

इति यत्कथितं सर्वं त्वया तदवधारितम् ।
इतः परं तव प्रश्न प्रत्युत्तरविवक्षया ॥
यदहं कथयिष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ।

हे चित्तवृत्ते ! यहां तक जो कुछ कहा गया है उसे तू समझ चुकी है, अब इसके आगे तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर में जो कुछ मैं कहता हूं उसे तूं एकचित्त होकर सुन ।

उपाधिमन्तःकरणं प्राप्य चिज्जीवतां गता ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्य मवस्थात्रयमृच्छति ।

आत्मा, अन्तःकरणरूप उपाधि को प्राप्त हो कर जीवभाव को प्राप्त हुआ है तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओं को भी प्राप्त हो रहा है ।

तत्र जाग्रदवस्थायां चिदात्मात्र शरीरके ॥
प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः क्षुरधाने यथा क्षुरः ।
विश्वम्भरः कुलाये स्वे तथैव स्वेन तेजसा ॥
बाह्यं शब्दादिकं सर्वं कामाद्यन्तः स्थितं च यत् ।
प्रकाशयति तद्ब्रध्नो ब्रह्माण्डमिव सर्वतः ॥

जैसे मियान में छुरा रहता है, ऐसे ही चिदात्मा जाग्रदवस्था में इस स्थूल शरीर में नखों के अग्रभाग पर्य्यन्त व्याप्त हो कर प्रविष्ट रहता है । और जैसे सूर्य्य ब्रह्माण्ड को सर्व

ओर से प्रकाशित करता है, ऐसे ही विश्वम्भर आत्मा इस देहरूप गृह में अपने तेज से बाह्य शब्दादि और आभ्यन्तर अन्तःकरणस्थित काम आदि सर्व विषयों को प्रकाशित (अनुभव) करता है।

अथ जाग्रद्दशायां य — दनुभूतं तु किञ्चन ।
तद्वासनासहायः सन् स्वप्नान् पश्यति भूरिशः ॥

तदनन्तर जाग्रद्-दशा में जो कुछ अनुभव किया है, उनकी वासनाओं से युक्त होकर वह अनेक प्रकार के स्वप्नों को देखता है।

अन्तर्हृदि परं ज्योति विज्ञानमय एव सः ।
विज्ञानानीन्द्रियार्थानि ह्युपसंहृत्य सर्वतः ॥
तत्तदाकारसम्पन्नां बुद्धिमेव प्रकाशयन् ।
सम्पद्यते स्वयंज्योति — रत्रायं पुरुषः किल ॥

पर-ज्योतिःस्वरूप विज्ञानमय वही आत्मा सब विषयों से बाह्य ज्ञानेन्द्रियों को अन्तःकरण में उपसंहार करके, घटपट आदि बाह्य आकारों को प्राप्त हुई बुद्धि को प्रकाशन करता है। और इस स्वप्नदशा में यह जीव स्वयंज्योतिः होता है।

एवं सति महामत्स्यो नद्याः कूले उभे अपि ।
सञ्चरत्येवमात्मायं स्वप्नजागरिते तथा ॥

जैसे महामत्स्य नदी के दोनो किनारों में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरता है, ऐसे ही यह आत्मा स्वप्न तथा जागरित के दोनों

स्थानों में अपनी इच्छा अनुसार उक्त दोनों दशाओं से असङ्ग हो कर विचरता है ।

अथ श्येनो यथाकाशे परिभ्रमणपीडितः ।
श्रान्तः संहृत्य पक्षौ द्वौ विश्रान्त्यै नीडमृच्छति ॥
एवं जागरणस्वप्न परिभ्रमणपीडितः ।
बुद्धिमप्युपसंहृत्य स्थानं तदभिवाञ्छति ॥
यत्र सुप्तः कामयते काममेष कथञ्चन ।
न कञ्चन यथा स्वप्नं पश्यत्युन्मीलिताशयः ॥

जैसे बाज़ आकाश में परिभ्रमण से पीड़ित हो कर तथा थक कर विश्राम के लिये दोनों पक्षों को संकुचित करके घोंसले पर जा बैठता है, ऐसे ही जीव भी जागरण और स्वप्न में परिभ्रमण से दुःखित हो कर बुद्धि का उपसंहार करके उस स्थान की इच्छा करता है जहां पहुँच कर किसी काम्यपदार्थ की इच्छा न हो, तथा कोई स्वप्न भी दिखाई न दे ।

महाराजो यथा लोके महाब्राह्मण एव वा ।
कुमारो वा शिशुः काष्ठामानन्दस्य परां गतः ॥
शेते तन्वि तथैवात्मा लोकं परममाश्रितः ।
यत्राहमेवेदमिति सर्वोऽस्मीति च मन्यते ॥

हे चित्तवृत्ते ! जैसे लोक में महाराज या आत्मसाक्षात्कारवान् श्रोत्रिय अथवा शिशुकुमार आनन्द की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर शयन करते हैं, ऐसे ही यह आत्मा भी स्वरूपभूत परमलोक को प्राप्त हो कर शयन करता है, और जिस दशा में

"यह सब मैं ही हूं" या "मैं सर्वरूप हूं"—इस प्रकार अपने आप को मानता है।

यथायं संपरिष्वक्तः स्त्रियातिप्रियया पुमान् ।
न बाह्यं वेद किमपि नान्तरं वेद कश्चन ॥
एवं तस्यामवस्थायां प्राज्ञात्मालिङ्गितः किल ।
पुरुषायं न जानाति बाह्यं किञ्चन नान्तरम् ॥

जैसे पुरुष अतिप्रिया स्त्रीसे आलिङ्गित हुआ किसी बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थ को नहीं जानता है, ऐसे ही यह जीव सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित हुआ बाह्य और आभ्यन्तर किसी वस्तु को नहीं देखता है।

तद्वै रूपमतिच्छन्दं पुंसोऽपहतपातकम् ।
अभयं वाऽपूर्वकाम—मात्मकाममकामकम् ॥

जीव का यह रूप कामरहित या स्वच्छन्द, पाप से शून्य, अभय, पूर्व कामों से वर्जित, आत्मकाम, निष्काम और शोक-रहित है।

शोकान्तरमिति प्राह भवत्यत्र पिताऽपिता ।
माताऽमाता, तथा लोका अलोका असुराः सुराः ॥
वेदा अवेदा अत्र स्युः स्तेनोऽस्तेनश्च जायते ।
भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डा—लोऽचाण्डालश्च पौष्कसः ॥
अपौष्कसोऽस्ति श्रमणो—ऽश्रमणस्तापसोऽन्यथा ।
पुण्यं पापं तथान्वेति न तदा हृदयस्थितान् ॥

सर्वान् शोकचर्यांस्तीर्ण स्तदा स्यात्स्वे सुखे स्थितः ।
शरत्सलिल इव स्वच्छ एको द्रष्टाऽद्वितीयकः ॥

सुषुप्ति अवस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव हो जाते हैं, वेद अवेद हो जाते हैं और चौर अचौर हो जाते हैं, तथा गर्भघाती अगर्भघातुक हो जाता है, चाण्डाल (ब्राह्मणी में शूद्र से उत्पन्न) अचण्डाल हो जाता है, पुष्कस (क्षत्रिया में शूद्र से उत्पन्न) अपुष्कस हो जाता है, संन्यासी असंन्यासी हो जाता है और तपस्वी अतपस्वी हो जाता है । जीव उस दशा में पुण्य पाप से रहित होता है, तथा हृदयस्थित सब शोकों से रहित हो जाता है और स्वरूप-सुख में स्थित, शरद् ऋतु के जल के समान निर्मल, एक, साक्षी और द्वैतरहित हो जाता है ।

गतिरेषास्य परमा सम्पदेषा परास्य च ।
एषोऽस्य परमोलोक आनन्दः परमोऽस्य च ॥

इस पुरुष की यह सुषुप्ति-अवस्था सब गतियों से उत्तमा गति है, तथा परा सम्पदा, परम लोक और परम आनन्द-रूप है ।

अस्यैवानन्दरूपस्य भूतान्यन्यानि भामिनि ।
मात्रांशमुपजीवन्ती - त्येष दृष्टान्त ईरितः ॥

हे भामिनि ! अन्यान्य प्राणी इसी आनन्दरूप आत्मा की एक मात्रा (अंश) का उपभोग कर रहे हैं, यहां तक श्रुत्युक्त सिद्धान्त का निरूपण किया ।

दार्ष्टान्तिकं चित्तवृत्ते यथावदवधारय।
नानाजन्मकृतासंख्य — कर्मसंस्कारसंस्कृतः॥
ब्राह्मणादिशरीराणि धर्मयोग्यान्युपागतः।
लोकवृत्तानुसारेणा — धीतवेद इति स्मरन्॥

हे चित्तवृत्ते! अब एक उदाहरण कहते हैं, तू उसे यथावत् समझ। पुरुष अपने अनेक जन्मों में किये हुए असङ्ख्य कर्मों के संस्कारों से युक्त होकर धर्माचरण के योग्य ब्राह्मण आदि शरीरों को प्राप्त होता है, और लोकाचार के अनुसार आगे कहे गये मनोरथों का चिन्तन करता है।

अध्यापनं करिष्यामि शिष्याः स्युर्बहवो मम।
ततो धनं गृहीत्वाहं भविष्यामि धनाधिकः॥

मैं वेदों को अध्ययन कर के अध्यापन करूंगा, मेरे बहुत शिष्य होंगे उनसे मैं धनसंग्रह करके धनाढ्य हो जाऊंगा।

याजनैरर्जितधन — स्ततोप्यधिकवित्तयुक्।
कुलाद्याचार्यतां गत्वा सम्पत्पारमुपागतः॥

और याजन द्वारा उस से भी अधिक धन से युक्त हो कर तथा कुल जाति आदि के आचार्य्यपदको प्राप्त होकर सम्पत्ति की पराकाष्ठा को पहुँच जाऊंगा।

तर्पयिष्यामि गृहिणीं वस्त्रालङ्कारभोजनैः।
वञ्चयित्वापि पितरौ स्वाद्यैः परिमलैरिति॥

माता पिता को भी वञ्चना करके वस्त्र, अलङ्कार, भोजन,

खाद्य और सुगन्धि द्रव्यों (अतर-फुलेल आदि) से गृहिणी (घरवाली) को तृप्त करूंगा ।

दर्शनानि पठन्त्येवं लाभं पूजां यशः स्मरन् ।
कृतोद्वाहोथ कलहं पित्रा मात्राग्रजेन वा ॥
अन्येन वा पालकेन सह कृत्वा पृथक् स्थितः ।
गृहे गृहिण्यैवाक्रान्ते तदीयत्वेन विश्रुते ॥
खरगोश्वविडालानु — चरभावमुपागतः ।
वसति प्रायशस्तन्वि त्वत्प्रसादेन पूरुषः ॥

इसी प्रकार लाभ, पूजा और यश की कामना से न्याय आदि दर्शनों को पढ़ते हैं । विवाह के अनन्तर पिता, माता, ज्येष्ठ भाई या अन्य पालक के साथ कलह करके अलग हो जाते हैं, और हे सुन्दराङ्गि ! तुम्हारे ही अनुग्रह से यह पुरुष गृहिणी से आक्रान्त (अपने अधिकार में किये हुए) घर में गधे, बैल, घोड़े, बिलाव और सेवक के समान प्रायः निवास करता है ।

अथ जातेष्वपत्येषु तन्मूत्रामेध्यचर्चितः ।
जनेषु श्लाघतेत्यर्थमेषा मे कन्यका खलु ॥

और सन्तान की उत्पत्ति होने पर उसके मल मूत्र से सना हुआ वह पुरुष, लोगों में बैठ कर बच्चे की अत्यन्त श्लाघा करता है और कहता है कि "यह मेरी छोटी कन्या है !"

पञ्चमासस्तुतश्चायं गृहिण्यस्ति गुरूदरी ।
इत्येवमादिभिः कृत्यै नरा दारादितत्पराः ॥

नयन्ति यौवने कालं स्वर्णलभ्यक्षणं परम्।

और यह पाँच मास का पुत्र है, तथा गृहिणी गर्भवती है...इस प्रकार के आचरणों को करते हुए स्त्री आदि में आसक्त हो कर यौवन काल को व्यतीत करते हैं कि जिस काल का एक क्षण भी स्वर्ण दान करने से भी नहीं मिल सकता।

अथ वृद्धत्वमापन्ने प्रिया तस्याङ्गमुत्तमम्॥
डिण्डीरपिण्डसदृशं मुखं सर्पबिलोपमम्।
कार्पासबीजसदृशे नेत्रयोः कृष्णतारके॥
रिक्तपेशीसमां कुक्षिं दरीतुल्यमथोदरम्।
चलपत्रदलप्रख्यां कन्धरां धमनिश्रिताम्॥
कण्ठं घुरघुराशब्द युक्तं व्याघ्रगलोपमम्।
अधिज्यधनुषा तुल्यं पृष्ठं वंशास्थिसम्भृतम्॥
तूलगोलसमं शिश्नं नितम्बं मुष्टिसंमितम्।
नासां गलच्छ्लेष्मबिन्दु मुक्ताफलविभूषिताम्॥
नष्टकूष्माण्डगन्धाढ्यं वीक्ष्यास्यानिलमन्वहम्।
चण्डालस्पर्शसदृशं मत्वा तत्स्पर्शमात्मनि॥
परित्यजति तं स्वामी यथा दासमशक्तिकम्।
पुत्रा उपहसन्त्येनं सुतरां च स्नुषाऽसती॥

और जब बुढ़ापा आ जाता है तब उसके सिर के बाल समुद्र फेन के समूह के समान, मुख सर्प के बिल के सदृश, आंखों के काले तारे बिनौले (कपास के बीज) के समान, रिक्त (खाली)

पेशी (कोष) के समान खोखली खाल, पेट कन्दरा के समान, उभड़ी हुई नसों से व्याप्त गरदन पीपल के पत्ते के समान कम्पायमान, व्याघ्र के गले के समान घुरघुर-शब्द से युक्त कण्ठ, चढ़ाये हुए धनुष के तुल्य रीढ़ की हड्डी से युक्त पीठ, रूई के गोले के समान मूत्रेन्द्रिय, मुट्ठीभर के नितम्ब (चूतड़), पानी की बूंदरूप मोतियों से विभूषित बहता हुआ नाक, तथा सड़े हुए कूष्माण्ड (पेठे) के दुर्गन्ध के समान गन्धवाला मुख का वायु हो जाता है। ऐसी दशा को देख कर उसकी प्रिया उसके स्पर्श को चाण्डाल के स्पर्श के सदृश मान कर उसे इस प्रकार छोड़ देती है, जैसे शक्तिरहित सेवक को स्वामी छोड़ देता है तथा पुत्र, और विशेष करके दुष्टा पुत्रवधु उसकी हँसी उड़ाते हैं।

कदाचित्कश्चिदप्येतत् पालितेषु जनेषु तम्।
भूतोपयोगमपि न प्रतिपत्त्यापि सेवते ॥

उसके पालित लोगों में से कोई पुरुष भी उसके पूर्व उपकार का विचार करके भी उसकी सेवा कभी नहीं करता !

प्राप्ते सन्निहिते मृत्यौ यथानः सुसमाहितम्।
उत्सृजद्यात्येवमात्मा शरीरस्योद्ध्वमुच्छ्वसन् ॥
याति प्राज्ञेनात्मना स मन्वारूढः सुलोचने।
आम्रमौदुम्बरं वापि पिप्पलं वान्यवृन्ततः ॥
प्रमुच्यते तथायं ना स्वाङ्गेभ्योपि प्रमुच्यते।
ततोऽवस्थामन्तकाले तस्याकर्णय भामिनि ॥

जैसे अनेक वस्तुओं के बोझ से लदी हुई गाड़ी "चूं चूं" शब्द करती हुई चलती है ऐसे ही जीवात्मा भी मृत्यु के समय (जब श्वास ऊर्ध्व चलने लगते हैं, तथा प्राण मर्मस्थानों को छोड़ते हैं, जो असह्य वेदना होती है उस) वेदना के कारण आर्त्त शब्दों को करता हुआ यह जीव स्वयंज्योतिःस्वरूप आत्मा से अधिष्ठित हो कर अन्य स्थान को जाता है। जैसे वृक्ष से आम्र और गूलर के फलों के टूट कर गिर पड़ने का कोई निश्चित समय नहीं है, ऐसेही पुरुष के शरीर के छूटने का कोई नियत समय नहीं है। हे भामिनि! अन्तकाल में उसकी जो दशा होती है तू उसे सुन।

न वदति न शृणोति नेक्षतेऽसौ
न रसयते मनुते न जिघ्रतीह।
स्पृशति न किमपीति नो विजाना-
त्यपि किमपीति वदत्सु बन्धुषूच्चैः॥

उस समय वह बन्धुओं के ऊँचे स्वरों से पुकारने पर भी न कुछ बोलता है, न सुनता है, न रस का अनुभव करता है, न सङ्कल्प करता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है और न कुछ समझता ही है।

जलायुका तृणस्यान्तं गत्वाक्रम्य तृणान्तरम्।
यथोपसंहरत्यात्म स्वरूपं प्राक्तृणस्थितम्॥
तथायं पुरुषो देहा — न्तरमाक्रम्य कर्मतः।
पूर्वदेहात्स्वस्वरूप — मुपसंहरति क्षणात्॥

जैसे जोंक तृण के अन्त भाग पर जा कर दूसरे तृण को थाम कर, पहले तृण से अपने शरीर को हटा लेती है, ऐसे

ही यह पुरुष कर्मानुसार अपने मन से दूसरे देह को आश्रय करके पूर्व देह से क्षणभर में चला जाता है ।

पेशस्कारी यथा पेशो मात्रामात्रमुपागतः ।
अन्यन्नवतरं रूपं कल्याणं कुरुते जवात् ॥
तथैव पुरुषः पूर्वं परित्यज्य कलेवरम् ।
अन्यन्नवतरं रूपं कल्याणं कुरुते स्वकम् ॥
पित्र्यं गान्धर्वमथवा दैवं ब्राह्मयमथापि वा ।
प्राजापत्यमथान्येषां भूतानाञ्च यथाक्रियम् ॥

जैसे सोनार सोने के टुकड़ों को लेकर पहले स्वरूप (कुण्डल आदि) की अपेक्षा से एक नया ही अत्यन्त रमणीय स्वरूप (कङ्कण आदि) बना देता है, ऐसे ही यह पुरुष भी कर्मानुसार पूर्व जीर्ण देह को छोड़ कर पितर, गन्धर्व, देव, ब्रह्मा, प्रजापति अथवा अन्यान्य भूतों सम्बन्धी सुन्दरतर शरीर को शीघ्र ही धारण कर लेता है ।

एवं परिभ्रमन्नस्मिँल्लोकेऽमुष्मिंश्च सर्वदा ।
अविद्याबुद्धिनिर्मग्नो नोन्मज्जति कदाचन ॥

इसी प्रकार सदा इस लोक तथा परलोक में भ्रमण करते करते अविद्या-बुद्धि (भ्रमसागर) में ही डूबा रहता है और कभी ऊपर को नहीं उठता है, अर्थात् ज्ञानमार्ग में नहीं आता है ।

कुर्वन्तः कर्म कर्मैव श्रेयोरूपं वदन्ति ये ।
मूढाः कापुरुषा भूयो जरां मृत्युं प्रयान्ति ते ॥

जो मूढ़ क्षुद्र पुरुष कर्मों को करते हुए उन्हें ही कल्याण-रूप कहते हैं, वे बार बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

पराग्वृत्तीनीन्द्रियाणि कृत्वा हिंसितवान् विभुः।
अतः पराग्जनः पश्य — न्नान्तरात्मानमीक्षते ॥

परमात्मा ने इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्ति करके जीव की हिंसा की है, अतः पुरुष बाहर को ही देखता है, अन्तर्वर्त्ती आत्मा को नहीं देखता।

आत्मा को न जानना ही जीव की हिंसा है।

जन्मजन्मान्तराभ्यस्त पुण्योपचयवान् पुनः।
ईक्षते प्रत्यगात्मान — मावृत्ताक्षोऽमृतेच्छया ॥

यह पुरुष जन्मजन्मान्तर में किये हुए पुण्यों की वृद्धि हो जाने पर मुक्ति की इच्छा से इन्द्रियादि का निग्रह करके प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करता है।

श्रान्तः परिभ्रमणत — श्चक्रे संसारसंज्ञिके।
मोक्षं वाञ्छन् कृतेनाय — मकृतो नैव लभ्यते ॥
इति निश्चित्य विज्ञाना — त्तल्लाभमवधार्य्य च।
विज्ञानार्थं गुरुं याति श्रोत्रियं ब्रह्मवित्तमम् ॥

संसारचक्र में घूमते घूमते थक कर मुमुक्षु पुरुष ऐसा जान कर कि नित्य सिद्ध मोक्ष किसी प्रकार कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता, और ज्ञान से ही उस मोक्ष का लाभ हो सकता है, उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये समिधा हाथ में लेकर ब्रह्मवित् पुरुषों में श्रेष्ठ श्रोत्रिय गुरु की शरण में जाता है,

समित्पाणिर्यतो वेदा चार्य्यवान् पुरुषः परम्।
ब्रह्मवित्परमाप्नोति ह्युपश्रुत्य श्रुतेः शिखाम् ॥

आचार्य्यवान् पुरुष को ही परब्रह्म का ज्ञान होता है। ब्रह्मवित् ही परब्रह्म को प्राप्त होता है—इन वेदान्त वचनों को सुन कर मुमुक्षु पुरुष आचार्य्य की ही शरण में जाता है।

ब्रह्म वेद भवेद्ब्रह्मे ऽत्यपरामवधार्य च।
नावेदविन्मनुते बृहन्तमिति चापराम्॥

ब्रह्मवित् ब्रह्म ही है, वेद को न जानने वाला पुरुष ब्रह्म को नहीं जान सकता।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्यादितीतराम्।
तं विदित्वात्येति मृत्युं पन्था नान्यस्त्वदाप्तये॥

जितेन्द्रिय पुरुष उस ब्रह्म को जान कर उसका ध्यान करे। ब्रह्म को जान कर पुरुष मोक्ष को पाता है, मोक्ष के लिये अन्य (कर्मादि) कोई साधन नहीं है।

इत्यर्थबोधिका चान्या ऽमेवं निश्चिनुते नरः।
ब्रह्मज्ञानं परं मुक्ति साधनं किंच नापरम्॥

इस प्रकार इसी अर्थ को कहने वाली अनेक श्रुतियों को देख कर मनुष्य को निश्चय हो जाता है कि ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति का परम साधन है, अन्य कोई नहीं।

ज्ञानादेव तु कैवल्य ऽमिति मे निश्चयः परः।
ज्ञानं तु तन्न स्वरूप रूपं भवितुमर्हति॥

ज्ञान से ही कैवल्य प्राप्त होता है, मेरा यह परम निश्चय है, और जिस ज्ञान से मोक्ष होता है वह आत्मरूप नहीं हो सकता।

उपायोपेययोरैक्या ऽपत्तेः किञ्च स्वरूपतः ।
यदि स्वरूपप्राप्तिः स्यात् कादाचित्का न सा भवेत् ॥

क्योंकि ऐसा होने से साधन और साध्य की ऐक्यापत्ति-रूप दोष होगा । संसार में साध्य और साधन भिन्न भिन्न ही देखने में आते हैं । तथा यदि आत्मरूप ज्ञान से ही आत्मा की प्राप्ति मानोगे तो वह प्राप्ति कादाचित्का (किसी एक काल में होने वाली) न होगी, क्योंकि आत्मरूप ज्ञान सदा ही विद्यमान है और ब्रह्मविषयक ज्ञान तो तत्त्वमसि आदि महा-वाक्यजन्य होने से कादाचित्क है ।

वृत्तिरूपश्चिदाभासः सर्वदैव प्रकाशते ।
अतोपि ब्रह्मणो ऽवाप्ति र्न कादाचित्कतां व्रजेत् ॥

वृत्ति में प्रतिबिम्बित चिदाभास भी सर्वदा ही प्रकाशमान है, अतः वह भी ब्रह्मप्राप्ति (मुक्ति) का साधन नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी दशा में ब्रह्मप्राप्ति कादाचित्का नहीं रहेगी किन्तु चिदाभास के सदा प्रकाशमान होने के कारण नित्य हो जायगी, और बिना साधन के ही सब का मोक्ष हो जायगा ।

तस्माद्वृत्त्या तया भाव्यं या विलीनप्रपञ्चकम् ।
गाहते ब्रह्म यत्साक्षा ऽदपरोक्षाच्छ्रुतीरितम् ॥

अतः कोई ऐसा वृत्त्यात्मक कादाचित्क ज्ञान होना चाहिए जो श्रुत्युक्त प्रपञ्चरहित साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म का बोधन करे।

तद्धेतुमानं च मया स्वयं ज्ञातुं न शक्यते ।
तत आचार्यमेवाह ऽमनुसृत्य कृतार्थताम् ॥
गमिष्यामीति शरणं गुरुं शिष्योऽभ्युपैति तम् ।

इतः परं चित्तवृत्ते त्वदधीनमिवेद्यते ॥
प्रयोजनं यदस्माकं यदर्थश्चास्मदुद्भवः ।
जगदाविद्यकत्वे यो हेतुः पृष्टस्त्वया सति ॥
विचारे क्रियमाणे स न त्वदन्यो निरीक्ष्यते ।
साधनं बाधनं वापि जगतो यद्वशे तव ॥

मैं उस ज्ञान के हेतु और प्रमाण को स्वयं नहीं जान सकता हूं इस लिये किसी आचार्य्य की शरण में जा कर कृतार्थता को प्राप्त हूंगा...इस अभिप्राय से शिष्य गुरु के समीप जाता है। हे चित्तवृत्ते ! इसके अनन्तर हमारा (विवेक का) जो प्रयोजन है तथा जिस कारण हमारा जन्म हुआ है वह सब तुम्हारे ही अधीन है। और जगत् के कल्पित होने में तुमने जो हेतु पूछा है उसका विचार करने पर वह तुमसे भिन्न दिखाई नहीं देता और इस जगत् का साधन तथा बाधन भी तुम्हारे ही वश में है।

इत्युक्ता साऽब्रवीद्भिक्षु — मनुजं चासितेक्षणा ।
भक्त्या स्निग्धतया चाढ्या प्रसन्ना शरदम्बुवत् ॥

ऐसा कहने पर काली आंखों वाली तथा शरद् ऋतु के जल के समान निर्मल वह चित्तवृत्ति अपने छोटे भाई भिक्षुक को भक्ति और स्नेह से युक्त हो कर बोली।

काकं निक्षिपसि भ्रातः किं कार्त्तस्वरपञ्जरे ।
शुकं विहाय रुचिरं रूपं मञ्जुलभाषितम् ॥

ऐ भाई ! मधुर भाषण करने वाले और सुन्दर रूप वाले

तोते को छोड़ कर सोने के पिंजरे में तुम कौए को क्यों पालते हो ?

पद्माकरे दिवाभीतं कुतो निक्षिपसि स्वयम् ।
हित्वा हंसं शुद्धपक्षं रक्तचञ्च्वङ्घ्रिलोचनम् ॥

श्वेत पंखों वाले, लाल चोंच चरण और आंखों वाले हंस को त्याग कर पद्माकर (कमलों वाले तालाब) में उल्लू को क्यों रखते हो ?

नियोजयसि किं श्राद्धे शुनकं प्रथमासने ।
पठन्तं द्विजमुत्सृज्य सूक्तान्याचारमन्थरम् ॥

श्राद्ध में, सदाचार से पवित्र, वेद के सूक्तों को पढ़ते हुए ब्राह्मण को छोड़ कर प्रथम आसन पर कुत्ते को क्यों बैठाते हो ?

लक्षहोमादिहोमेषु पलाण्डुं लशुनं तथा ।
हविष्ट्वेन किमादत्से सन्त्यक्तघृतपायसः ॥

लक्षहोम आदि होमों में घी और दूध को छोड़कर पलाण्डु और लशुन को हवि के स्थान में क्यों ग्रहण करते हो ?

यन्मां विषयजैर्लब्धैः करम्बितकलेवराम् ।
जगत्क्षये मुक्तिपथे नियोजयसि सादरम् ॥

विषयजन्य भोगों से पुष्ट शरीर वाली मुझ चित्तवृत्ति को जो तुम जगत् के क्षयरूप मुक्तिमार्ग में आदरपूर्वक प्रेरणा करते हो—पूर्वोक्त दृष्टान्तों के समान यह भी अनुचित है ।

अनुतापपरामेव मग्रजामनुजोऽब्रवीत् ।
मा मैवं वद चार्वङ्गि स्ववृत्तमवधारय ॥

इस प्रकार पश्चात्ताप करती हुई अपनी बड़ी बहिन को छोटा भाई बोला, हे सुन्दराङ्गि ! ऐसा मत कहो किन्तु अपने स्वरूप को जानो ।

स्फटिकस्यामलत्वं य — द्गुणो दोषायतेऽत्र सः ।
सन्निधौ मलिनस्यैष विधत्ते मलिनप्रभाम् ॥

इस संसार में स्फटिक का निर्मलतारूप गुण ही उस के लिये दोष के समान हो जाता है, जो यह मलिन वस्तु की समीपता से स्वयं भी मलिन प्रभा वाला हो जाता है ।

तथा त्वयापि स्वच्छत्वं दोषायैव प्रकल्प्यते ।
यद्यत्संनिहितं तत्त — न्मयत्वं येन दृश्यते ॥

इसी प्रकार तेरी निर्मलता भी तेरे लिये दोष रूप ही हो रही है, अतएव जिस वस्तु की समीपता तुझे प्राप्त होती है उसी वस्तु के आकार वाली तू दिखाई देने लगती है ।

त्यक्त्वा ततो विषयसङ्गमसङ्गमेक–
मात्मानमाकलय शुद्धमहःस्वरूपम् ।
एवंविधे च विषये सचिवत्वमेष्य–
त्यभ्यस्यमानमिह तत्त्वमसीतिवाक्यम् ॥

अतः विषयसङ्ग को छोड़कर, एक असङ्ग शुद्ध प्रकाशस्वरूप आत्मा को जान, उस आत्मा को जानने के लिये "तत्त्वमसि" महावाक्य का अभ्यास ही तेरी सहायता करेगा ।

उद्दीपितां महावाक्यै — स्त्वां ब्रह्मात्मैक्यगोचराम् ।
जगन्मंक्ष्यति वीक्ष्यैव रज्जुबुद्धिमिवाहिराट् ॥

महावाक्यजन्य ब्रह्मात्मैक्यविषयक ज्ञान से युक्त तुझे देख कर जगत् ऐसे नष्ट हो जायगा जैसे रज्जुज्ञान के होते ही कल्पित सर्प नष्ट हो जाता है ।

तदा निवृत्तानर्थाःस्युः प्राप्तानन्दाश्च भिक्षवः ।
भद्रे तव प्रसादेन मा विलम्बं विधेहि तत् ॥

हे भद्रे ! उस समय तेरे अनुग्रह से भिक्षु लोगों के अनर्थ निवृत्त हो जायँगे और उन्हें परमानन्द की प्राप्ति हो जायगी अतः ब्रह्मरूप होने में तू विलम्ब मत कर ।

बहूनामुपकाराय स्वनाशोऽप्युचितः सताम् ।
स्वयं मृत्वा रसेन्द्रो हि सञ्जीवयति देहिनम् ॥

बहुतों के उपकार के लिये सत्पुरुषों को अपना नाश कर देना उचित ही है, जैसे पारा स्वयं मर कर देहधारियों को जिला देता है ।

जीवितं मरणं तन्वि परोपकृतिवर्जितम् ।
मरणं जीवितं मन्ये यत्परोपकृतिक्षमम् ॥

हे सुन्दरि ! मैं परोपकार से शून्य जीवन को मरण, और परोपकार करने में समर्थ मरण को जीवन समझता हूं ।

इति प्रबोधिता चित्त-वृत्तिस्तेनात्र योगिना ।
विरक्ता विषयेभ्यःसा ब्रह्मात्मैक्यमुपाददे ॥

इस प्रकार योगी के प्रबोधन करने पर चित्तवृत्ति ने विषयों से विरक्त होकर ब्रह्मात्मैक्य को अङ्गीकार किया ।

प्राप्तस्यैवानन्दवार्धेस्तदासि स्त्यक्तस्यैव क्लेशवार्धेस्तदाऽभूत् ।
त्यागो यस्मिँस्तत्त्वमस्यादिवाक्यै र्जाता काले तादृशी चित्तवृत्तिः ।

जिस समय चित्तवृत्ति तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा आत्माकारता को प्राप्त हुई उसी समय उस पूर्व से ही प्राप्त आनन्दसमुद्र की प्राप्ति हुई और पूर्व से ही त्यक्त दुःखसागर का त्याग हुआ।

स हरिहरसरस्वतीयतीन्द्र द्युमणिकराभिहताज्ञतान्धकारः।
जयति परमहंसयोगिवर्यो नृहरिसंज्ञचिदात्मसक्तचित्तः॥
जिताहारो जितक्रोधो जगन्नाथसरस्वती।
येनायं रचितो ग्रन्थः अद्वैतामृतसंज्ञकः॥

जिसका अज्ञानरूप अन्धकार श्रीहरिहरसरस्वती यतीन्द्ररूप सूर्य की किरणों से नष्ट हो चुका है, जिसका चित्त नृसिंहरूप चिदात्मा में आसक्त है, जो जिताहार और जितक्रोध है, तथा जिसने यह "अद्वैतामृत" नामक ग्रन्थ बनाया है वह परमहंस योगिराज जगन्नाथसरस्वती इस संसार में सर्वोत्कृष्ट होकर विराजमान है।

एतस्य कवलान्यं चा – स्वाद्य सादरतां गताः।
अमृतत्वं प्रयान्त्वाशु विबुधा यतिसत्तमाः॥

श्रेष्ठ पण्डित यति पुरुष इस ग्रन्थ के किसी एक कवल को सादर आस्वादन करके शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त हो।

इति श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य्यहरिहरसरस्वती-श्रीमुखशिष्य-परमहंसश्रीजगन्नाथसरस्वतीविरचिते अद्वैतामृते पञ्चमः कवलः सम्पूर्णः।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः।
शुभम्।



विज्ञापन।

अद्वैतसंग्रह, मूल्य ।॥)—यह पुस्तक निःसन्देह बहुत ही उत्तम है और पञ्चदशी, भर्तृहरिः, श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध, श्रीमद्भगवद्गीता, उत्तरगीता, रामगीता, अवधूतगीता, अष्टावक्रगीता तथा श्रीशङ्कराचार्य्य-विरचित प्रातःस्मरणम्, हरिमीडे, साधन-पञ्चकम्, मोहमुद्गरम्, वाक्यसुधाकरः, लघु-वाक्यवृत्तिः, अपरोक्षाऽनुभूतिः, वाक्यवृत्तिः, अद्वैतानुभूतिः, उपदेश-साहस्री, तत्त्वोपदेशः, माया-पञ्चकम्, स्वात्मनिरूपणम्, आत्मबोधः, शतश्लोकी, मनीषापञ्चकम्, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्, चतुःश्लोकी भागवतम्, सदाचारानुसन्धानम्, धन्याष्टकम्, अनात्मश्री-विगर्हणप्रकरणम्, प्रश्नोत्तर रत्नमालिका, काशी-पञ्चकम्, परापूजा, यतिपञ्चकम्, प्रबोधसुधाकरः, एकश्लोकी, सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-सारसंग्रहः, विवेकचूडामणि स्वात्मप्रकाशिका, प्रौढ़ानुभूतिः, निर्वाणमञ्जरी, आत्मचिन्तनम्, सिद्धान्तविन्दुः, विज्ञाननौका, हस्तामलकम् और आत्मषट्कम्, इत्यादि पुस्तकों में से सिद्धान्त और सारभाग को छाँट कर संग्रह किया गया है, जिनके मूल श्लोक लेकर प्रत्येक श्लोक के नीचे उसका बहुत सरल हिन्दी भाषा में शुद्ध अनुवाद दिया गया है, जिससे कि सर्व साधारण को उनका भाव सुगमता से समझ में आ जाय और अनेक पुस्तकों का अभिप्राय इस एक पुस्तक से ही प्राप्त हो जाय। इसका मूल्य भी परोपकारार्थ छपाई तथा कागज़ की लागत से अधिक नहीं रखा गया है, वास्तव में यदि यह पुस्तक किसी अन्य प्रकाशक के हाथ में होती तो कम से कम इसका मूल्य २) रुपया रखा जाता। यह पुस्तक डबल क्राउन १६ पेजी आकार के ३०० पृष्ठों में सुन्दर चिकने कागज़ पर सुपाठ्य टाइप में छपी है, सर्व साधारण को शीघ्र ही इसके खरीदने का यत्न करना चाहिए अन्यथा उनको दूसरे संस्करण की प्रतीक्षा करनी होगी और मूल्य भी अधिक देना पड़ेगा।

पुस्तक मिलने का पता— रामचन्द्र

ठिकाना बाबू रामधनदास तुलसीराम,

मोहल्ला नंदनसाहू—बनारस शहर।